परामर्श - समिति :

श्री अगरचन्द नाहटा

डॉ कन्हैयालाल सहल

प्रो नरोत्तम स्वामी

डॉ मोतीलाल मेनारिया

श्री उदयराज उज्ज्वल

श्री सीताराम लाळस

श्री गोवर्धनलाल काबरा

श्री विजयसिंह, सिरियारी

251

परम्परा

# राजस्थानी साहित्य का आदि काल

संपादक

नारायणसिंह भाटी

प्रकाशक

राजस्थानी शोध-संस्थान

प्रकाशक
राजस्थानी शोध-संस्थान
जोधपुर

परम्परा—भाग १२

मूल्य —३ रु.

मुद्रक
हरिप्रसाद पारीक
साधना प्रेस
जोधपुर

# विषय सूची

'अपनी मातृ-भाषा का नाम था राजस्थानी। मेडता की मीरां इसी मे पदों की रचना करती और गाया करती थी। इन पदों को सौराष्ट्र की सीमा तक के मनुष्य गाते तथा अपना कर के मानते थे। चारण का दूहा राजस्थान की किसी सीमा में से अवतरित होता तथा कुछ वेश बदल कर काठियावाड़ में घरघराऊ बन जाता। नरसी मेहता गिरनार की तलहटी में प्रभु-पदो की रचना करता और ये पद यात्रियों के कण्ठो पर सवार होकर जोधपुर, उदयपुर पहुँच जाया करते थे।

'इस जमाने का पर्दा उठा कर यदि आप आगे बढेंगे तो आपको कच्छ, काठियावाड़ से लेकर प्रयाग पर्यन्त के भू-खण्ड पर फैली हुई एक भाषा दृष्टिगोचर होगी"। इस व्यापक बोल-चाल की भाषा का नाम—राजस्थानी। इसी की पुत्रियां फिर व्रजभाषा, गुजराती और आधुनिक राजस्थानी नाम धारण कर स्वतन्त्र भाषाएँ बनी।'

—झवेरचन्द मेघाणी

# सम्पादकीय

राजस्थानी साहित्य पर पिछले कुछ वर्षों से शोध-कार्य चल रहा है। कई महत्वपूर्ण कवियों और काव्य-कृतियों को प्रकाश मे लाया गया है पर प्रारंभिक राजस्थानी साहित्य के सम्बन्ध मे बहुत कम खोज हुई है। इने-गिने विद्वानों द्वारा जो कुछ कार्य इस दिशा में हुआ वह बहुत थोड़ा और विवादास्पद है। *अतः राजस्थानी साहित्य के क्रमिक विकास को समझने के लिए प्राचीनतम* सामग्री को प्रकाश में लाना आवश्यक है। इसी उद्देश्य से प्रस्तुत अक में इस काल की महत्वपूर्ण साहित्य-विधाओं और कुछ काव्य-कृतियों का अधिकारी विद्वानो द्वारा विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

राजस्थानी साहित्य का आदिकाल कहां से कहां तक माना जाना चाहिए। इस सम्बन्ध मे विद्वानो में मतभेद है। अतः लेखकों ने अपने-अपने मतानुसार आदिकाल का समय निर्धारित कर अपने विषय पर प्रकाश डाला है। अधिकाश विद्वानो ने प्राचीन राजस्थानी का उद्भव ६ वी शताब्दी से माना है और 'कुवलयमाला कथा' (स० ८३५) मे उल्लिखित मरुभाषा[1] को प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है। १२ वी शताब्दी तक का समय वैसे अपभ्रंश काल माना जाता है क्योंकि इस काल की प्रमुख साहित्यिक भाषा अपभ्रंश ही थी। पर अपभ्रंश के साथ-साथ अनेक जन-भाषाएँ इस काल (६ वी से १२ वी शती) में अलग-अलग जनपदो मे अपना स्वरूप ग्रहण कर रही थी इसीलिए 'कुवलयमाला कथा' के रचयिता उद्योतन सूरि ने १८ देशी भाषाओं में मरुभाषा की भी गणना करते हुए उसके अस्तित्व को स्वीकार किया है। 'कुवलयमाला' के एक चर्चरी

---

[1]अप्पा तुप्पा भणि रे अह पेच्छइ मारुए तत्तो
न उ रे भल्लउं भणि रे अह पेच्छइ गुज्जरे अवरे
अम्ह काउ तुम्ह भणि रे अह पेच्छइ लाडे
भाइ य भइणी तुब्भे भणि रे अह मालवे दिट्ठे।

राम का उदाहरण यहा प्रस्तुत किया जाता है जिसमें मरभापा (प्राचीन राजस्थानी) का रूप क्रम स्पष्ट परिलक्षित होता है—

> कमिण्ण कमळ दळ लोयण चल रे हंसओ
> पीण पिहुल थण कडियल-भार किलत ओ
> ताल चलित वलिआवलि कलयल सद्द ओ
> रास यम्मि जइ लब्भइ जुवइ मत्थ ओ ॥

अत राजस्थानी साहित्य का प्रारभ ९ वी शताब्दी से ही मान लेने में आपत्ति नही होनी चाहिए, यद्यपि १३ वी शताब्दी के पहले का बहुत कम साहित्य हमे उपलब्ध होता है। १३ वी शताब्दी के बाद की अनेक रचनाएँ इस भापा मे उपलब्ध होती हैं पर उनमे भी जैन साहित्य की ही प्रधानता है। १६ वी शताब्दी तक आते-आते राजस्थानी साहित्य काफी समृद्ध हो गया था। भापा की दृष्टि से इस काल की भापा को डा० टैसीटरी ने 'पुरानी पश्चिमी राजस्थानी' कहा है। १६ वी शताब्दी तक यही भापा राजस्थान और गुजरात के बहुत बडे भू-खड की साहित्यिक भापा रही है। गुजराती साहित्य के प्रकाड विद्वान स्वर्गीय झवेरचन्द मेघाणी ने भी प्राचीन राजस्थानी को ही गुजराती की जननी मानते हुए उसके विस्तृत साम्राज्य को नि सकोच स्वीकार किया है।

डा० टैसीटरी के मतानुसार १६ वी शताब्दी तक का समय प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का है।[1] यहा से गुजराती ने अपना स्वतत्र रूप विकसित किया और कालान्तर मे वह एक अलग भापा हो गई। उधर आधुनिक राजस्थानी ने अपना नया रूप ले लिया। कई विद्वानों ने डा० टैसीटरी की इस मान्यता के प्रति शका की है। उनके मतानुसार प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का समय १५ वी शताब्दी तक ही माना जाना चाहिए क्योंकि आधुनिक राजस्थानी का रूप १६ वी शताब्दी में प्रारम्भ हो गया था। पर यह भी सत्य है कि १६ वी शताब्दी की भापा प्राचीन राजस्थानी के ही अधिक निकट है अत भापा की दृष्टि से

---

[1] मुझे यह स्थापित करने मे कोई कठिनाई नही दीख पडती कि प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का युग कम से कम सोलहवी शताब्दी तक की लबी अवधि तक जाकर समाप्त हुआ होगा। लेकिन बहुत सभव है कि प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी इस सीमा के बाद भी रही हो—और नहीं तो इसकी कुछ विशपताएँ तो निश्चय ही।

डा० टैसीटरी, पुरानी राजस्थानी, पृ० १०, अनु० नामवरसिंह।

इस शताब्दी को सन्धि-काल मानने पर भी इस काल की रचनाओं को प्रारंभिक काल के अंतर्गत ही मानना चाहिए। जालोर मे सं० १५१२ में पद्मनाभ विरचित 'कान्हड़दे प्रवंध' को गुजराती विद्वान जूनी गुजराती का ग्रंथ मानते हैं अत. उसे प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का ही ग्रंथ कहा जा सकता है न कि आधुनिक राजस्थानी का। १६ वीं शताब्दी में राजस्थानी साहित्य को विस्तार मिला है। उसमें निखार भी आया है और कई प्रतिभा-सम्पन्न कवि भी हुए हैं। पर साहित्य को नया मोड़ देने वाले कवियों का प्रादुर्भाव १७ वीं शताब्दी में ही हुआ है। डिंगल के सर्वश्रेष्ठ कवि राठौड़ प्रथ्वीराज, दुरसा आढ़ा, मीरा, ईसरदास, साइया भूला आदि इसी शताब्दी के कवि हैं। कवि हरराज द्वारा राजस्थानी के महत्वपूर्ण छन्द-शास्त्र 'पिंगल सिरोमणि' की रचना भी इसी शताब्दी में हुई। अत मध्यकाल का प्रारभ १६ वी शताब्दी के अत से ही मानना उचित होगा। वैसे इस तरह का काल-विभाजन किसी भी साहित्य के अध्ययन की सुविधा के लिए किया जाता है। एक निश्चित सीमा-रेखा खेंच कर प्रत्येक काल को एक दूसरे से पृथक करना तो सभव है ही नही क्योकि सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ साथ भाषा और साहित्य का क्रमिक विकास होता है। इस विकास-क्रम का सूत्र कही भी टूटता नही। एक युग की भाषागत और साहित्यिक विशेषताएँ किसी न किसी रूप में दूसरे युग की रचनाओं को भी प्रभावित करती हैं।

इस काल की साहित्यिक परम्परा को समझने के लिए तत्कालीन ऐतिहासिक व सामाजिक परिस्थितियों पर भी सक्षेप में प्रकाश डालना अप्रासागिक न होगा। यह काल ऐतिहासिक दृष्टि से सघर्षपूर्ण रहा। यहा के हिन्दू राजाओं को अलाउद्दीन खिलजी, मुहम्मद तुगलक और पठानों, सैयदों तथा लोदी वश के शासकों से निरतर लोहा लेना पडा जिसकी साक्षी इस काल के साहित्य में भी पाई जाती है। महाराणा सग्रामसिंह के साथ बाबर का अन्तिम भयकर युद्ध हुआ और सग्रामसिंह की हार के साथ ही मुगल-सल्तनत की नींव भारतवर्ष मे कायम हो गई। पर इसके बाद भी राजस्थान के लोगो ने विदेशी सत्ता के सामने पूर्ण समर्पण नहीं किया। इतने बडे सघर्ष के कारण सामाजिक उथल-पुथल भी स्वाभाविक ही थी। इस सकटकालीन स्थिति मे भी यहां की जनता ने अपने धर्म और सस्कृति को ही प्रधानता दी और किसी तरह के लोभ में आकर भी विदेशियों की संस्कृति को स्वीकार नही किया। जो योद्धा धर्म, सास्कृतिक मर्यादा और असहाय की सहायतार्थ युद्ध कर के प्राणोत्सर्ग करते,

जनता उन्हे सम्मान की दृष्टि से देखती थी। इस प्रकार जूझ कर मरने वाले जूझारो की लोग आज भी देवताओ की तरह पूजा करते हैं। विदेशियो के साथ सपर्क बढने से यहा की भाषा मे कुछ अरबी फारसी के शब्दों का प्रचलन अवश्य हो गया जिसका उदाहरण इस काल की महत्वपूर्ण रचना 'अचळदास खीची री वचनिका' मे देखा जा सकता है।

इस काल के साहित्य को तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है—

(१) जैन साहित्य

(२) जैनेतर साहित्य

(i) चारण शैली का साहित्य

(ii) भक्ति साहित्य

(३) लोक साहित्य

जैसा कि पहले कहा जा चुका है यह काल संघर्ष और सामाजिक उथल-पुथल का काल रहा है, पर इस समय का वीररसात्मक साहित्य बहुत कम उपलब्ध होता है। अधिकाश साहित्य जैन-धर्मावलंबियों द्वारा रचा गया है। इस काल की सैकडों जैन रचनाएँ आज भी उपलब्ध होती हैं। जैन मुनियों और श्रावको ने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए नवीन साहित्य का ही सृजन नही किया, प्राचीन भाषाओ के महत्त्वपूर्ण ग्रथों की टीकाएँ, टब्बे, बालावबोध, पद्यात्मक अनुवाद आदि भी बहुत किये और महत्त्वपूर्ण साहित्य को उपाश्रयों आदि मे सुरक्षित रख कर नष्ट होने से बचाया। इस काल का प्रमुख साहित्य जैन साहित्य ही है। धार्मिक उद्देश्य से लिखे जाने के कारण ही इसे साहित्यिक महत्त्व न देना अनुचित होगा। जैन धर्मावलबियो ने इस प्रकार राजस्थानी भाषा और साहित्य की महान् सेवा की है जिसका महत्त्व राजस्थानी साहित्य के इतिहास मे कभी कम न होगा।

जैनेतर साहित्य मे चारण साहित्य, भक्ति साहित्य और प्रेमगाथात्मक साहित्य की गणना की जा सकती है। चारण शैली मे लिखी गई वीररसात्मक रचनाओ मे सिवदास गाडण कृत 'अचळदास खीची री वचनिका' बादर ढाढी रचित 'वीरमायण', श्रीधर व्यास का 'रणमल्ल छद' आदि प्रमुख हैं। 'वीरमायण' को बहुत प्राचीन हस्तलिखित प्रतिया उपलब्ध नही होती और मौखिक परम्परा के कारण उसमे भाषागत परिवर्तन के साथ-साथ कई एक क्षेपक भी जुड गये है। पर 'अचळदास खीची री वचनिका' इस काल की भाषा और शैली का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। डॉ० टेसीटरी ने भी इसे 'The great Classical

model'[1] कह कर इसके महत्त्व को प्रदर्शित किया है। इन महत्त्वपूर्ण काव्य-ग्रंथों के अतिरिक्त कई स्फुट रचनाएँ भी मिलती हैं। शृंगाररसात्मक रचनाओं में आसाइत रचित हंसाउली, ढोला मारू रा दूहा, जेठवे रा सोरठा आदि उत्कृष्ट कोटि की रचनाएँ भी इसी समय मे रची गयी। इस काल की प्रसिद्ध रचना 'वीसलदे रासो' को कई विद्वानो ने वीररसात्मक साहित्य के अंतर्गत लिया है पर उसका भी मुख्य विषय शृंगारिक ही है। प्राचीन राजस्थानी साहित्य की अत्यंत महत्त्वपूर्ण डिंगल गीत शैली का प्रादुर्भाव भी इसी काल में हुआ। प्राचीनता की दृष्टि से १४ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि बारूजी सौदा का नाम इस सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वैसे गीत शैली की प्राचीनता के कई एक प्रमाण इनके पहले भी मिलते हैं[2]। १५ वी और १६ वी शताब्दी में तो गीत-रचना काफी परिमाण में हुई। इस काल के योद्धाओं पर लिखे गये गीत डिंगल साहित्य की अमूल्य निधि हैं।[3]

भक्ति साहित्य मे नाथ संप्रदाय और कबीर आदि सन्तों की सन्त-परम्परा का प्रभाव राजस्थानी मे भी आया। १६ वी शताब्दी मे अल्लूनाथ बहुत प्रसिद्ध भक्त कवियों मे हुए हैं। इनकी रचनाएँ आदि काल और मध्य काल के बीच रची गई जिससे भाषागत परिवर्तन का बारीकी से अध्ययन करने के लिए वे विशेष रूप से उपयोगी हैं।

इस काल का अधिकाश साहित्य दोहा, सोरठा, गाहा, गीत, झूलणा, चौपाई, चौपइ आदि छदों में छन्दोबद्ध हुआ है।

जितना प्राचीन गद्य राजस्थानी में उपलब्ध है उतना शायद बहुत कम आधुनिक भारतीय भाषाओं में होगा। राजस्थानी गद्य के उदाहरण १२ वीं शताब्दी तक मे मिलते हैं। जैन लेखकों द्वारा इस काल में बहुत सा गद्य लिखा

---

[1] वचनिका राठोड़ रतनसिंहजी री महेसदासोत री, भूमिका, पृ० ६।

[2] मरु भारती, वर्ष ८, अंक १ मे देखिये मेरा लेख 'डिंगल गीतों का उद्भव और विकास'।

[3] 'महाराणा यश-प्रकाश' में भूरसिंह शेखावत द्वारा संग्रहीत गीत तथा उदयपुर के साहित्य संस्थान द्वारा प्रकाशित 'प्राचीन राजस्थानी गीत' इस सम्बन्ध मे अवलोकनीय हैं।

गया। गद्य का सुन्दर उदाहरण 'अचळदास खीची री वचनिका' मे भी देखा जा सकता है। मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त अनेक महत्वपूर्ण टीकाएँ और अनुवाद भी इस काल मे हुए है ।

इस समय के लोक साहित्य मे पवाड़ों का प्रमुख स्थान है। बारहठ किशोरसिंहजी के मतानुसार तो पवाडे राजस्थानी साहित्य की प्राचीनतम धरोहर हैं।[1] पाबूजी राठौड़, बगड़ावत और निहालदे सुल्तान के पवाड़े लोक-काव्य के ऐसे वट वृक्ष हैं जिनकी शाखाएँ प्रशाखाएँ बढती ही रही हैं और आज तो उनकी गणना करना ही कठिन सा हो गया है। इन पवाड़ों में अनेक नायक-नायिकाओं और तत्कालीन समाज का विस्तृत चित्रण सरल एवं सरस लोक-शैली मे देखने को मिलता है।[2] आज भी यहा की भील जाति रावणहत्थे (एक तार-वाद्य) पर पाबूजी के पवाडे बड़े प्रभावोत्पादक ढंग से गाती है जिन्हे सुनते ही रोमाच हो आता है। बगडावतों की दानशीलता और वीरता के पवाडे प्राय गुर्जर लोग गाते हैं। इनके अतिरिक्त कई छोटे-बड़े प्रेमगाथात्मक पवाडों और दोहों-सोरठो के माध्यम से भी लोक साहित्य विकसित हुआ जिनमें से अनेक का सम्बन्ध-सूत्र अपभ्रंश की कई रचनाओं से भी जोड़ा जा सकता है ।

लोक साहित्य की यह परम्परा मौखिक ही रही जिससे उस काल का बहुत सा साहित्य नष्ट हो गया। जो कुछ आज उपलब्ध है वह भी बड़ी तेजी से नष्ट होता जा रहा है। अतः इन्हें लिपिबद्ध कर के प्रकाशित करना तो आवश्यक है ही पर यदि इनके गायको की सगीतात्मक वाणी को भी टेप रेकॉर्ड के माध्यम से सुरक्षित कर लिया जाय तो आगे आने वाली पीढियां भी इन पवाडो का सही मूल्य जान सकेगी क्योकि यह संगीतात्मकता ही इनकी असली आत्मा है ।

आदिकालीन राजस्थानी साहित्य सम्बन्धी सामग्री हस्तलिखित ग्रथो और शिलालेखो आदि के माध्यम से आज भी उपलब्ध होती है पर न जाने कितने हस्तलिखित ग्रथ कई कारणो से नष्ट हो चुके हैं। जो कुछ बचे हैं वे शोधकर्ताओं

---

[1] चारण—भा० १, पृ० १५४ ।

[2] विस्तृत जानकारी के लिए 'मरु भारती' में डा० कन्हैयालाल सहल द्वारा सम्पादित पवाड़े तथा उषा मलहोत्रा के लेख देखिये ।

को आसानी से उपलब्ध नही होते और दिनोदिन नष्ट होते ही जा रहे हैं। पिछले कुछ ही वर्षों मे कितने ही हस्तलिखित ग्रंथ और चित्र आदि कबाड़ियों और व्यापारियो द्वारा इधर-उधर कर दिये गये हैं। ऐसी स्थिति में हमारा यह बहुत बडा दायित्व है कि इस अमूल्य निधि को कालकवलित होने से बचायें। इस दिशा में किये गये प्रयत्न साहित्य और इतिहास के लिए बहुत हितकर होगे, क्योकि इस काल की छोटी से छोटी रचना का भी कई दृष्टियों से महत्व है।

राजस्थानी साहित्य की कुछ आदिकालीन रचनाओं पर हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखको ने हिन्दी की प्रारंभिक रचनाएँ मान कर भाषा और रचना-प्रणाली की दृष्टि से विचार किया है। परन्तु उनमे से कई विद्वानो का अध्ययन एकागी और अपूर्ण रहा जिससे कई एक भ्रामक धारणाएँ प्राचीन राजस्थानी के सम्बन्ध में भी हो गईं। बीसलदेव रासो, आदि के अतिरिक्त कितना विशाल साहित्य, विविध शैलियो में, इस काल मे लिखा गया इसकी ओर उनका ध्यान नही गया। प्राचीन राजस्थानी को हिन्दी के आदि काल के अतर्गत लेकर उसे चारणो तथा भाटो द्वारा रचित प्रशस्ति-काव्य मात्र मानने से भी उसकी वास्तविक विशेषताओ की उपेक्षा हुई। वस्तुस्थिति यह है कि राजस्थानी का इतना विशाल और विविधता पूर्ण साहित्य यहा की अपनी ऐतिहासिक व सास्कृतिक पृष्ठभूमि मे भाषा व शैलीगत विशेषताओं को लेकर अवतरित हुआ है कि उसका अलग से गहन अध्ययन किया जाना आवश्यक है। ऐसा किये बिना हम अपने देश की एक बहुत महत्त्वपूर्ण साहित्य-परम्परा का समुचित मूल्यांकन नही कर पायेंगे।

इसी उद्देश्य से हमने परम्परा के माध्यम से काल-विभाजन के अनुसार कुछ महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करने की योजना बनाई है। उसी दिशा मे यह विनम्र प्रयास भी किया गया है। प्रस्तुत अक में कुछ अज्ञात साहित्य और विवादास्पद रचनाओं पर ही प्रकाश डाला जा सका है। आशा है यह सामग्री राजस्थानी साहित्य के इतिहास की जानकारी के अलावा राष्ट्रभाषा हिन्दी और अन्यान्य सम्बन्धित भाषाओ के प्राचीन साहित्य के अध्ययन में भी उपयोगी सिद्ध होगी।

इस अंक के विद्वान लेखको के सहयोग के लिए मैं उनका आभारी हू। आशा है भविष्य की योजना को कार्यान्वित करने में भी उनका यह बहुमूल्य सहयोग अवश्य मिलेगा।

—नारायणसिंह भाटी

# मेघमाल भड्डली

श्री अगरचन्द नाहटा



भाषा विचारों को अभिव्यक्त करने का महत्वपूर्ण साधन है। वैसे तो पशु-पक्षी भी ध्वनि और संकेत विशेष से अपने भाव प्रकट करते हैं पर प्रकृति ने मानव को मन और वाणी की महान शक्ति प्रदान की है। मानव ने उनके विकास में अद्भुत प्रगति की। फलत. ज्ञान-विज्ञान में मानव सब से आगे बढ गया। लिपि के आविष्कार ने तो उन भावों को स्थायी बनाने में और भी अधिक महत्व का काम किया और इसी का परिणाम है कि हजारों वर्ष पूर्व जो ऋषि-महर्षि एवं चिंतक हुए उनकी वाणी आज भी हमें प्राप्त है।

मानव की आदिम या मूल भाषा क्या थी, इसको जानने का कोई साधन उपलब्ध नही है पर मानव की भाषा में परिवर्तन होता ही रहा है। प्रदेश और समय के अंतर से बोलियों में इतना अंतर हो जाता है कि उनके मूल का पता लगाना भी कठिन हो जाता है। कई विद्वान प्राकृत को प्राचीन मानते हैं और कई संस्कृत को। इन दोनों शब्दों के अर्थ पर विचार करने से प्राकृत ही प्राचीन होना चाहिए। उसे संस्कारित करने पर संस्कृत नाम पड़ा होगा। फिर प्राकृत में भी एकरूपता नहीं है। अत उसके महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी आदि प्रान्तीय भेद पाये जाते हैं। इनमें से शौरसेनी प्राकृत से शौरसेनी अपभ्रंश और उससे राजस्थानी भाषा का विकास माना जाता है। वि. स. ८३५ जालोर में रचित 'कुवलय-माला' में जो १६ प्रांतीय भाषाओं में की विशेषताओं के उदाहरण दिए हैं, उनसे राजस्थानी बोली ६वी शताब्दी से पहिले स्वतन्त्र रूप में उल्लेख की जाने योग्य हो गयी थी और उसका नाम मरु प्रदेश के नाम से 'मरु-भाषा' कहा जाता था, ज्ञात होता है।

११वीं-१२वीं शताब्दी में राजस्थानी साहित्य उपलब्ध होने लगता है और

१३वी शताब्दी से स्वतंत्र उल्लेख योग्य रचनाएँ मिलने लगती हैं। पर ६ठी ८वी शताब्दी से अपभ्रंश का प्रभाव बढ़ा और १२वी शताब्दी तक तो विशेष रूप मे रहा। इसलिए १५वी के प्रारभ तक की जैन एव जैनेतर राजस्थानी एवं गुजराती रचनाओ मे अपभ्रंश का प्रभाव तो स्पष्ट है ही। १६वी शताब्दी के प्रारंभ तक अपभ्रंश में अनेको ग्रथ लिखे जाते रहे हैं। राजस्थानी हिन्दी भाषा का विकास अपभ्रंश से ही हुआ इसलिए जैन-अपभ्रंश रचनाओं का ठीक से अध्ययन किया जाय तो राजस्थानी व हिन्दी के विकास की आशिक रूप से भी उलझी हुई समस्या काफी हद तक सुलझ सकती है। १४वी शताब्दी की जिनदत्त चौपई नामक रचना मे अपभ्रंश व हिन्दी के मिले-जुले से पद्य हैं। १३वी शताब्दी से राजस्थानी भाषा मे स्वतन्त्र रचनाएँ मिलती ही हैं, इससे पहले की भी अनुसधेय हैं।

हिन्दी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् स्वर्गीय रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के प्रारभिक काल को वीर-गाथा-काल के नाम से सबोधित किया और कई वर्षो तक यही नाम प्रसिद्ध रहा। इस काल की जो रचनाएँ उन्होने एवं मिश्र-बन्धुओ ने बतलाई थी उनकी ओर करीब ३० वर्ष पूर्व जब मेरा ध्यान गया तो मुझे ऐसा लगा कि 'वीर-गाथा-काल' यह नाम सार्थक नही है और इस समय की बतलाई जाने वाली रचनाएँ भी उस समय की नही हैं। सब से पहले 'पृथ्वीराज रासो' जो इस काल का सब से बड़ा महाकाव्य है और प्रधानतया उसी को लक्ष्य कर के 'वीर-गाथा-काल' की संज्ञा दी गई है। उसकी हस्तलिखित प्रतियो की खोज मैंने प्रारंभ की क्योकि प्रकाशित सस्करण की भाषा १६वी शताब्दी के पहले की नही लगी। खोज करने पर उसकी लघु, लघुतम, मध्यम रूपान्तरों की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ राजस्थान और गुजरात में मुझे प्राप्त हुई और उनका विवरण प्रकाशित किया गया। उसके बाद 'बीसलदेव रास' की भी २०-२५ प्रतियाँ अनेक स्थानों से प्राप्त कर के उनकी जाँच-पड़ताल की गई और उस के भी लघु, मध्यम और वृहद् तथा लघु, विभक्त और अविभक्त रूपान्तरो का पता लगाया। 'खुमाण रासा' की प्रति को भी सर्वप्रथम पूना से प्राप्त कर के उसे १८वी शताब्दी का सिद्ध किया गया और 'हम्मीर रासो' को १९वी शताब्दी का निश्चित किया गया। इसी तरह वीर-गाथा-काल की प्रत्येक रचना पर यथासभव प्रकाश डाला गया और उस समय की राजस्थानी-जैन-रचनाओ का परिचय भी नागरी-प्रचारिणी पत्रिका मे दिया गया।

आदिकालीन व राजस्थानी रचनाओं में भड्डली का भी महत्वपूर्ण स्थान है, पर अभी तक वह उपेक्षित ही रहा। हस्तलिखित प्रतियों का अवलोकन करते समय 'भड्डली' नामक ग्रन्थ की अनेकों प्रतियाँ जैन भंडारों में प्राप्त हुई, केवल मेरे संग्रह में ही उसकी १०-१२ प्रतियां हैं। उनसे यह तो निश्चित हो गया कि लोक साहित्य के रूप में प्रसिद्ध टवक या डाक और भड्डली के पद्य या वाक्य काफी प्राचीन होने चाहिएँ। पर मेरे संग्रह में जो इसकी संवत् १६६६ की लिखी हुई प्राचीन प्रति थी उसमें पहले की प्रति की खोज करते रहने पर भी कई वर्षों तक प्राप्त न हो सकी। इसलिए अब तक इसके संबंध में प्रकाश नहीं डाला जा सका।

गायकवाड़ ओरिएन्टल सीरीज से प्रकाशित 'पत्तनस्थ प्राच्य जैन भांडागारीय ग्रन्थ सूची' में 'संघवी पाड़े' की ताड़पत्रीय प्रति नं० ११६ का विवरण पढ़ने पर यह तो निश्चित हो गया कि 'भड्डली वाक्य' जैसे पद्यों की परम्परा काफी प्राचीन है। सूची में 'गुर्वादिचार' का उद्धरण तो नहीं दिया गया पर उसे भड्डली सदृश बतलाया गया है। और शकुन-विचार, भूमि-ज्ञान विषयक जो पद्य उद्धृत किए गए हैं वे उपलब्ध भड्डली वाक्य रचना के जैसे ही हैं। यथा शकुन विचारः—

वाम सियाली होइ सुह, दाहिण दुक्ख करेइ।
पिट्ठट्ठिय बीहामणी, अग्गट्ठिय मारेइ॥
वामी होविणु दाहिणी, जइ पूयरि गच्छेइ।
तो आभरणविभूसिया, कवविजिय दावेइ॥

भूमिज्ञान—

सत्तु खणेविणु पूरियइ, जइ मट्टी वड्ढेइ।
निद्धा भूमि गलक्खणी, फलु निव्वमनह देइ॥
दर-उद्देहा-कोलिय-विमि-बीढा-पलि सप्प।
खरगमभूमि भयावणी, परि न वसिज्जइ व(ब)प्प॥

इन पद्यों से 'भड्डली' का रचना काल १४वीं शताब्दी के पीछे का नहीं है, निश्चित है। संभव है, वह ११वीं से १२वीं शताब्दी के बीच की रचना हो। यद्यपि ऐसे पद्यों की परम्परा इस से भी पहले से चली आ रही है। यह बात तो सूची में उद्धृत प्राकृत भाषा के ऐसे ही पद्यों से स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है।

डाक या भड्डली के नाम से प्रसिद्ध वर्षा-विज्ञान संबंधी पद्यों का प्रचार उत्तर भारत के अनेक प्रान्तों में बहुत अधिक रहा है। बंगाल, बिहार, उत्तर

प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, मालवा मे तो इनका प्रचार है ही पर बंगाल और आसाम में भी डाक के पंद्य प्रसिद्ध हैं। इतने व्यापक प्रदेश में शताब्दियों तक प्रसिद्ध रहने के कारण भाषा में उन-उन प्रान्तों का प्रभाव पडना स्वाभाविक है और बहुत से पद्य इनके नाम से प्रसिद्ध हैं वे सभी इनके नही होकर अन्य लोगों द्वारा समय-समय पर उनके नाम से प्रसिद्ध कर दिए गए है। इसलिए डाक और भड्डुली के इन पद्यो की प्राचीनतम प्रति का पता लगाना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत हुआ, जिससे इनकी भाषा का और कौन-कौन से पद्य वास्तव मे इनके रचे हुए हैं, निर्णय किया जा सके। गत २० वर्षो से भड्डुली की पचासों हस्तलिखित प्रतियाँ इधर-उधर के भंडारों में देखने को मिली पर १७वी शताब्दी के पहले की लिखी हुई प्रति नही मिल सकी। ५-७ वर्ष पूर्व ऑरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा से १६वी शताब्दी की लिखी हुई एक प्रति मिली जिसका प्रथम पत्र अप्राप्त है। उस प्रति मे केवल ६७ पद्य ही हैं जब कि अन्य प्रतियो मे २०० से अधिक पद्य मिलते हैं। इसलिए उस से भी प्राचीन प्रति प्राप्त करने के लिए खोज जारी रखी और आगम प्रभाकर, सौजन्यमूर्ति पूज्य मुनि श्री पुण्यविजयजी को पाटन आदि के भंडारों एव उनके सग्रह मे भड्डुली की जितनी भी प्राचीन प्रतिया हो, भिजवाने को लिखा। उन्होने कृपा कर के जो प्रतियां भिजवाईं उनमें एक प्रति १५वी शताब्दी की लिखी हुई प्राप्त हुई जिसमे २०८ पद्य थे। उस प्रति को प्राप्त कर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई क्योकि वर्षो का मनोरथ पूर्ण हुआ और खोज सफल हुई। मैंने मेरे भ्रातृज भँवरलाल की सहायता से अन्य प्रतियो के पाठान्तर लेने प्रारंभ किये तो इस प्रति मे प्राप्त बहुत से पद्य तो अन्य प्रतियो मे प्राप्त ही नही हुए और जो पद्य मिले उनमे बहुत अधिक पाठ-भेद होने से वह कार्य उस समय पूरा नहीं हो पाया, जिसे महोपाध्याय विनयसागरजी के सहयोग से पूर्ण कर के सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट की ओर से अन्य कई रूपान्तरो के साथ प्रकाशित किया जा रहा है।

डाक और भड्डुली के संबंध में कई तरह के प्रवाद और मत प्रचलित हैं, उनमे डॉ० उमेश मिश्र, श्री नरोत्तमदासजी स्वामी आदि के विचार कुछ तथ्य-पूर्ण हैं, उन्ही को सक्षेप में यहाँ दिया जा रहा है। उसके बाद कुछ अन्य विद्वानों के मत देकर अपनी जानकारी प्रस्तुत कर रहा हूँ।

डॉ० उमेश मिश्र ने 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका के सन् १६३४ के अक में 'मैथिली साहित्य' का परिचय देते हुए डाक के सबध मे लिखा था कि 'सब से पहले

यह प्रश्न उठता है कि यह डाक कौन थे, इस संबंध में कोई भी निश्चित प्रमाण अभी तक नही उपलब्ध हुआ है। मिथिला मे विशेष रूप से यह प्रसिद्ध है कि किसी समय में ज्योतिपशास्त्राचार्य वराहमिहिर अपने गांव से किसी एक राजा के पास जा रहे थे। रास्ते में सन्ध्या हो जाने के कारण उन्हें एक अहीर के घर रह जाना पड़ा। उस घर के मालिक ने इनका पूर्ण आदर किया और अपनी कन्या को इनके आतिथ्य-सत्कार करने के लिए नियुक्त किया। संयोगवश आचार्य ने उस गोप-कन्या में गर्भाधान किया और उसे बहुत भरोसा देते हुए कहा कि इस गर्भ से एक बड़ा विद्वान पुत्र उत्पन्न होगा जो समस्त देश में अपना यश फैलायेगा। यह कह कर दूसरे दिन वराहमिहिर वहां से चल दिए। समय पाकर उस कन्या के गर्भ से एक सुन्दर बालक उत्पन्न हुआ। उसके घर के लोगों ने ज्योतिषी द्वारा नवजात शिशु की जन्मकालिक ग्रह-स्थिति का विचार करवाया तो मालूम हुआ कि यह एक होनहार बालक है। यही बालक ५ वर्ष के होने के पहले से ही त्रिकालज्ञ होने का चिन्ह दिखाने लगा। क्रमशः उसने १ लाख कहावतो के स्वरूप में ज्योतिष शास्त्र के विषयों को लेकर कविताओं की रचना की। यही कविता-संग्रह डाक-वचन के नाम से मिथिला मे प्रसिद्ध है।

इन कविताओ की आलोचना से यह मालूम होता है कि मिथिला के सग्रह के अनुसार इनका प्रसिद्ध नाम 'डाक' था। कभी-कभी इन्हें लोग 'घाघ' भी कहा करते हैं। उक्त सग्रह में केवल चार ही बार घाघ का नाम आया है, किन्तु डाक का नाम तो सैंकडो बार देख पडता है, परन्तु मिथिलेतर प्रदेशो की प्रसिद्ध कहावतो को देखने से मालूम होता है कि इन कहावतों के रचयिता का प्रधान नाम घाघ ही है और इसलिए इन कहावनों के संग्रह का नाम पं० रामनरेश त्रिपाठीजी ने घाघ और भड्डरी रखा है। मिथिला में ये डाक के नाम से प्रसिद्ध हुए, बिहार, सयुक्त-प्रान्त आदि स्थानों में घाघ के नाम से तथा मारवाड में डक के नाम से इनकी ख्याति हुई। इसी प्रकार बंगाल में इनकी प्रसिद्धि खाना के नाम से हुई और सभी स्थानो मे इनकी कहावते पूर्ण रूप से प्रसिद्ध पाई जाती हैं।'

डॉ उमेशजी ने डाक को मैथिल सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उन्होने डाक की जाति और समय के संबध मे विचार करते हुए लिखा है, 'डाक के वचनों को पढने से यह मालूम होता है कि ये जात के अहीर थे। इसमें कोई भी सदेह नही है क्योंकि कम से कम २० बार 'कहथि गुआर', 'कह डाक

गुआर', 'कह सेस गुआर', 'कहल गुआर', 'सुन्दर डाक गुआर' इत्यादि का उल्लेख मिलता है। इस संग्रह में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रो के प्रत्येक कर्म के विधान के ऊपर सूक्ष्म विचार देख कर यह अनुमान करना पडता है कि यह ब्राह्मण को छोड़ कर अन्य जाति के नही हो सकते। ब्राह्मणों में ही इसी प्रकार की स्वाभाविक विद्वत्ता सदा से ही चली आ रही है। अहीर होते हुए डाक ऐसे प्रकाण्ड ब्राह्मणवत् विद्वान् कैसे हुए? उक्त दन्तकथा के सहारे यह कहा जा सकता है कि डाक के पिता कोई विशिष्ट विद्वान् ब्राह्मण ही रहे होगे।'

अब प्रश्न यह है कि इनका जन्म-समय क्या था? भाषा की दृष्टि से बड़ी आसानी से मैं कह सकता हूँ कि १५ वी शताब्दी के पूर्व इनका समय नही कहा जा सकता है और इसके लिए एक मात्र प्रमाण-ग्रन्थ के आधार पर यह देख पड़ता है कि यह १८ वी शताब्दी के पूर्व के रहे होंगे। अतः डाक का समय १५ वी शताब्दी के बाद और १८ वी शताब्दी के पूर्व का ही कहना होगा।

सन् १९४६ मे 'राजस्थान-भारती' के प्रथम अक में प्रो. नरोत्तमदास स्वामी ने राजस्थान की वर्षा संबधी कहावतें शीर्षक लेख 'सरस्वती कुमार' के नाम से प्रकाशित किया था। उन्होने डॉ० उमेश मिश्र और रामनरेश त्रिपाठी के मतों की आलोचना करते हुए लिखा है,—'डाक वचन की भाषा के आधार पर डॉ० मिश्र उसका मिथिलावासी होना अनुमान करते है पर यह बडा निर्बल प्रमाण है। राजस्थान में डाक की जो उक्तियाँ मिलती हैं उनकी भाषा शुद्ध राजस्थानी है। पजाब में वह पजाबी हो गयी है और संयुक्तप्रात मे अवधी या पूर्वी। बात यह है कि मौखिक रूप मे लोक-प्रचलित रचनाओं की भाषा, स्थान तथा समय के साथ-साथ सदा बदलती रहती है। अतः केवल भाषा के आधार पर डाक को मैथिल या राजस्थानी या पजाबी कहना उचित नही जान पड़ता।'

राजस्थान मे डाकोत नाम की एक याचक जाति है। डाकोत लोग अपने पास पत्रा रखते है और लोगों को तिथि-वार आदि बताया करते हैं। वे राशि आदि का शुभाशुभ फल, दिशाशूल आदि ज्योतिष की छोटी-मोटी बाते भी सुनाते हैं। ये अपने को डाक की सन्तान कहते हैं। डाकोत शब्द डाक-पुत्र का अपभ्रश है जिसका अर्थ है डाक के वशज (डाक-पुत्र > डाक-पुत्त > डाक-उत्त > डाक-उत > डाकोत > डाकोत)। पुत्र का अपभ्रंश उत राजस्थानी भाषा मे सन्तानवाचक प्रत्यय बन गया है। जहां तक हमें मालूम हो सका है डाकोत लोग राजस्थान के बाहर नही पाये जाते। अतः हमारा अनुमान है कि राजस्थानी जनता में प्रचलित इस विश्वास में तथ्य है कि डाक राजस्थान का ही निवासी था।

एक कथा प्रसिद्ध है कि एक विद्वान् ज्योतिषी थे। वे तीर्थ यात्रा के लिए काशी गए हुए थे। वहां उनके ध्यान में आया कि शीघ्र ही एक ऐसा योग आने वाला है जिसमें गर्भाधान होने से जन्म लेने वाला बालक विद्वान् होगा। अद्भुत विद्वान पुत्र की लालसा से ज्योतिषीजी घर को चल पड़े पर शुभ दिन तक घर न पहुँच सके। उस दिन सध्या समय वे एक अहीर के यहां ठहरे। उस अहीर की कन्या युवती थी। ज्योतिषीजी ने उसी से विवाह कर लिया। इसी अहीर कन्या से डाक का जन्म हुआ।

एक दूसरी कथा के अनुसार डाक स्वयं एक विद्वान ब्राह्मण थे। उन ने किसी अहीर कन्या से विवाह कर लिया था और इसी अहीर कन्या की सन्तान डाकोत नाम से प्रसिद्ध हुई।

डाक की स्त्री का नाम भड्डली था जिसके भडली, भडरी, भड्डरी, भाडरि आदि अनेक रूपान्तर मिलते हैं। डाक की बहुत सी उक्तियां भड्डली को सबोधन कर के लिखी गयी हैं। इस प्रकार अनेक कहावतों मे भड्डली का नाम आया है। राजस्थान में पद्यो के अन्दर वक्ता की जगह सम्बोधित व्यक्ति का नाम देने की प्रथा है अर्थात् रचयिता अपना नाम न देकर जिसको सम्बोधन करता है, उसका नाम देता है। राजिया, भैरिया, किसनिया, जेठवा आदि के सोरठे इस बात के प्रमाण हैं। इसी प्रकार डाक की उक्तियो मे कही तो दोनों का नाम मिलता है जैसे:—

डक्क कहै सुण भड्डली, जळ बिन प्रियमी जोय।

और कही केवल भड्डली का नाम मिलता है, जैसे—

तो असाढ मे 'भड्डली', वरखा चोखी होय।

ऐसे पद्यो मे भड्डली शब्द का अर्थ 'हे भड्डली' होगा। इन पद्यों के अन्दर केवल भड्डली का नाम देख कर कुछ लोगों ने भूल से भड्डली को ही रचयिता समझ लिया और इन कहावतो को भड्डली की कहावत कहने लगे। यहा तक कि सुदूर युक्त-प्रान्त में जाकर भड्डली स्त्री से पुरुष भी बन गयी। इसी प्रकार कई कहावतो में 'सुण भड्डली' की जगह 'कह भड्डली' या 'कहै भड्डली' तक हो गया।

श्री रामनरेश त्रिपाठी का अनुमान है कि भड्डरी दो हुए हैं, एक युक्त प्रान्त मे और द्वितीय राजपूताने मे। युक्त-प्रान्त के भड्डरी पुरुष थे और राजपूताने के भड्डरी स्त्री। हमारी सम्मति मे उनका यह अनुमान ठीक नहीं। यद्यपि उन ने दोनो भड्डरियों की कहावतें अलग दी हैं, पर देखने से पता

चलेगा कि दोनों एक ही की रचनाएँ हैं। युक्त प्रान्त वाले भड्डुरी की अधिकांश-प्रायः सभी कहावतो की भाषा राजस्थानी है और वे सभी राजस्थान मे भी प्रचलित हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार कि दूसरे भड्डुरी के विभाग में दी हुई कहावते। उनसे कही से भी प्रतीत नही होता कि वे पुरुष कवि की ही उक्तियां हैं। यह अवश्य है कि उनमें कई स्थानों पर 'कह भड्डुरी' आदि शब्द आए हैं जिन से यह मालूम हो सकता है कि वे भड्डुरी की बनाई हुई कहावतें हैं, डाक की नही। इस सबध मे हम ऊपर कह चुके है कि लोगो ने भ्रम के कारण 'सुण भड्डुली' की जगह 'कह भड्डुरी' कर दिया है। अथवा यह भी सभव है कि घाघ जैसे प्रतिभाशाली विद्वान् के सम्पर्क से भड्डुली मे भी प्रतिभा का उन्मेष हुआ हो और उसने भी कुछ कहावते बना डाली हो।

हमारा अनुमान है कि डाक राजस्थान का ही निवासी था और वह काफी पहले हुआ है, सम्भवतः अपभ्रंश काल में जब विभिन्न प्रान्तों की भाषाओ मे बहुत अन्तर नही आया था। उनकी उक्तिया इतनी लोकप्रिय हुईं कि वे समस्त उत्तरी भारत मे फैल गई। आजकल इन कहावतो की भाषा का जो रूप पाया जाता है वह उसका मूल रूप नही हो सकता। देश और काल के साथ साथ उसमे बहुत परिवर्तन हो चुके हैं।

उपरोक्त उद्धरणो से इतना तो स्पष्ट है कि डाक की स्त्री का नाम भड्डुरी था और उसे सम्बोधित कर के डाक ने वर्षा सबंधी पद्य कहे थे। प्रवाद के अनुसार डाक ब्राह्मण थे और भड्डुली अहीर कन्या। स्वामीजी ने राजस्थान की डाकोत जाति को डक का वंशज माना है, यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण तथ्य है। बीकानेर मे डाकोतों के अनेक घर हैं और उनमें से एक अच्छे ज्योतिषी डाकोत से मैंने पूछा तो उसने अपने को डवक ऋषि की सन्तान बतलाया और इसका प्रमाण न होने पर 'डवक वशप्रकाश—भाषा टीका' नामक एक पुस्तक मुझे लाकर दी, जिसे डक्वशोत्पन्न लालचन्द शर्मा ने लिखी है और सवत् १९६० में प० हरिप्रसाद भागीरथ ने बबई से प्रकाशित की है। उसमे 'स्मृतिरत्नाकर' और 'नारदपचरात्र' का उद्धरण देते हुए लिखा गया है कि 'शुक्र वश मे 'डक्क' हुए। इनके साथ कन्यादान आदि करते रहे। उनकी कन्या लेते रहे सो भी 'डक्क' सज्ञा वाले ब्राह्मण भए।' डक्क की वशावली इस प्रकार बतलाई है—ब्रह्मा, भृगु, राक्षस गुरु शुक्राचार्य पुत्र षडाचार्य के दांकराचार्य पुत्र शांडित्य के पुत्र डामराचार्य के पुत्र डक्क हुए। उनके पाच पुत्र थे। 'नारदपचरात्र' में उपलब्ध वंशावली के श्लोक इस प्रकार है.—

आसीत्पुरा मुनिश्रेष्ठो भार्गवो धर्म तत्परः।
तस्य पुत्रातितेजस्वी पंडाचार्य इति स्मृतः ॥ १
द्वितीयो मर्कटाचार्यः शुक्राचार्यस्य पुत्रकः।
पंडाचार्यस्यभवत्पुत्राः शंकराचार्य वाचकः ॥ २
ततो बभूवशाडिल्यः स्वनाम्ना स्मृतिकारकः।
तत्पुत्रो डामराचार्यश्चिकित्सा निपुणः सदा ॥ ३
तथा ज्योतिर्मये शास्त्रे निपुणा कृतवानसौ।
संहिता डामरी डक्का: तच्छिरया बहवोऽभवत् ॥ ४
औरसा: सनवस्तस्य मुनेः पंचैव डिडमः।
दुरतिस्यः सुषेणश्च शल्यको मतिमांस्तथा ॥ ५
प्रतिस्य इति विख्याता बभूवश्शास्त्र कोविदाः।
सुषेण शल्यको वैद्य वक्रतुर्योयुत माम् ॥ ६
डक्का इति प्रतिस्याता कथिताः शुक्रवंशजाः।
तस्या कन्या मदतारय तेषा डक्क सज्ञकः ॥ ११

'स्मृति-रत्नाकर' में लिखा है—

यद्दान दीयते लोके कर ग्रह विशुद्धये।
तस्याधिकारणः प्रोक्ता ब्राह्मण डक्कि सज्ञकाः ॥

भड्डली डक्क की पत्नी थी। इसके प्रमाण में जैन विद्वानों की भड्डली की लिखी हुई कतिपय प्रतियों के प्रारंभिक पद्य विशेष महत्व रखते हैं। अनूप सस्कृत लायब्रेरी में स० १७३० की लिखी हुई 'मेघमाला — भड्डली वाक्य' एक जैन विद्वान् की लिखित एवं संग्रहीत प्रति है, उसमे 'मेघमाला' के प्रारंभ करने से पहले निम्नोक्त तीन श्लोक लिखे मिलते हैं:—

तियसिद नदिद नय पणमितु जिणेसरं महावीरं।
वुच्छामि मेघमालां जे कहीयजिए वरिदेएं ॥ १
गगनस्य च्छलग्राही, पुरा डकाभिधो द्विज.।
भडल्या निज भार्यायाः पुरो ज्योतिषमब्रवीत् ॥ २
भडल्याग्रे पुरा प्रोक्तं ज्योतिज्ञानमनेकधा।
योव गच्छति मेधावी स प्राप्नोति यशोधन ॥ ३

बीकानेर के उपाध्याय जयचंदजी के भंडार एवं हमारे संग्रह में 'भड्डली-पुराण' की ३-४ प्रतियां हैं, उसमें उपरोक्त 'मेघमाल' (भड्डलिया) के प्रारंभ होने से पूर्व निम्नोक्त दो दोहे लिखे मिले हैं:—

सकल लिंग माहि जाणियें, एकलिंग परसिद्ध।
ऋषीश्वर में मूलगो तूं'डो डक्ज भट्ट ॥ १

त्रिभुवन माता भाडली, बीभासए परतख।
इक बंमण परणाविये, भडल नारि प्रसिद्ध ॥ २

'मेघमाला' के प्रारंभिक पद्य से भी यह निश्चित होता है कि इसकी रचना मे पहले 'ग्रहनक्षण का चरित्र' कहा गया था। उसके बाद 'मेघमाला' की रचना हुई है :—

मई तुह आगइ मुह कही, 'गह नक्खत्त चरित्तु'।
मेहमाल हिव निसुणि धणि, भड्डलि थिरु करि चित्तु ॥ १

डक्क और भड्डली के प्राप्त पद्यों में—बहुत से पद्यो में भड्डली का ही नाम आता है, कुछ पद्यों में डक्क और भड्डली दोनों का ही नाम आता है और कुछ में दोनो का ही नाम नही है। ऊपर दिए हुए प्रारभिक पद्य से इस रचना का नाम 'मेघमाल' या 'मेघमाला' सिद्ध होता है पर अनेक प्रतियों में 'भड्डली वाक्य' या 'भड्डली पुराण' नाम भी दिया गया है। मैंने जो पचासों प्रतियां देखी हैं उनमें एक-दूसरे की नकल की गई हो, ऐसी प्रतियां बहुत कम मिली हैं। अधिकांश प्रतियों में पद्यों का क्रम और उनकी संख्या भी भिन्न-भिन्न है। इसलिए सभव है लेखको ने लोक मुख से सुन कर अपने-अपने ढंग से संग्रह किया हो और इसी कारण पद्यों में पाठभेद भी बहुत अधिक मिलता है। उदाहरणार्थ प्रारभ के केवल तीन पद्यों को पाठभेद के साथ नीचे दिया जा रहा है।

मइ[1] तुह[2] आगइ[3] सुह[4] कहो, गह[5] नक्खत्त[6] चरित्तु[7]।
मेहमाल[8] हिव[9] निसुणि धणि[10], भड्डलि[11] थिरु[12] करि चित्तु[13] ॥ १

पाठभेद—[1]अ. बी. मइ अज मे। [2]अ तु., अज. तुझ। [3]अज० आगलि। [4]पु. कहिउ सुह, अ. सुकह कहि, बी. सहु कह्यउ अज सुह कहिउ। [5]अ. अज० अह। [6]पु. नक्ख, अ. नक्षत्र। [7]पु. बी चरित्त अ. विचार। [8]बी अज. मेघमाल। [9]पु निसुणेहि अज हवइ। [10]अ. घुणि, बी. अज. धण। [11]अ. भडलि, बी. भड्डल अज. भडल। [12]पु. अ थिर, बी. वस, अज. वसि। [13]पु. बी. अज. चित्त, अ. वास।

कत्तिय[1] मासह[2] गयणयलु[3], हूय[4] रत्तुप्पल वन्नु[5]।
ता[6] जाणेजे[7] भड्डली[8], जलहर[9] हूअउ[10] फुल्ल ॥ २

पाठभेद— [1]पु. कतिअ, अ. कित्तिय, बी. काती, अज. कातिग। [2]अज. मामा। [3]पु. गयणयल, अ. गगनतल, बी. गयणियइ। [4]पु. अ. बी. हुई अज. हुवइ। [5]पु बी. वन्न, अ वान अज. वर्ण। [6]पु. तो अज. तु। [7]पु जाणिज्जे अ. जाणेतु अज तु जाणी। [8]बी नरवरह, अ. अज भडली। [9]जलहरि. बी. जलिहर. अज. जहर। [10]पु. बी. महाखन, अ उमरि आन्धान अज. निजत।

मागसिरि[1] जइ[2] जलु[3] पडइ[4], ण्हायउ[5] जलहरु[6] मुद्धि[7]।
होउ[8] गब्भु मब्भंति[9] करि[10], तुह[11] कहिउं हिय सुद्धि ॥ ३

पाठभेद— [१]अज. मागिसिरें। [२]अ. अज. जु. पु. जइ नवि। [३]अ. जल। [४]अज. करें। [५]अ. अज. नाहिउ। [६]पु. जलह अ. अज. जलहर। [७]अज. मुंघ। [८]पु. अ. हुअ गब्भ, अज. होई गर्भ। [९]अ. भमंत। [१०]पु. कर। [११]पु. मइ जंपिउं तुह मुद्धि, अ. मइ अखी तुह बधि, अज. मैं आण्यो तु बांधि।

भड्डली वाक्यो की कुछ सटीक प्रतियां भी मिलती हैं और एक गद्यानुवाद भी मिला है जिसे श्री शिवसिंह चोयल ने मरुभारती में प्रकाशित किया है। संस्कृत में अनेक ऋषियों आदि की मेघमालसंज्ञक रचनाएँ प्राप्त हैं और वर्षा एवं वायु-विज्ञान सम्बन्धी प्रचुर साहित्य उपलब्ध है, उसका परिचय फिर कभी दिया जायगा। 'वर्षबोध' आदि में भड्डली के पद्य भी उद्धृत मिलते हैं।

राजस्थान में प्रचलित वर्षा सबंधी पद्यों मे भड्डली के नाम का निर्देश सब से अधिक हुआ है पर मिथिला, बगाल, आसाम मे डाक की ही अधिक प्रसिद्धि है जो कि डक्क का ही रूपान्तर है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या से इस सबंध में पूछने पर उत्तर मिला है, उसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है:—

'बगाल मे लोकतत्त्व की अभिव्यक्ति लिए हुए पर्याप्त कविताएँ प्राप्त होती हैं, इनमें ऋतु, कृषि, ज्योतिष, और मानव चरित्र का निरीक्षण है। इन्हे डाक और खाना इन दो व्यक्तियो के नाम से वर्णित किया जाता है। खाना प्राचीन भारत के प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर की पुत्र-वधू के रूप में सम्मानित है। हम डाक के सबध में कुछ नही जानते। और भड्डली का नाम भी डाक के साथ नही जोड़ा जाता। वास्तव मे भड्डली बगाल में अपरिचित हैं। डाक की कहावते (चर्चाएँ, किंवदन्तियां) बिहार और आसाम मे अभी भी प्रचलित हैं। डा० दिनेशचन्द्र सेन के 'वगसाहित्य परिचय' भाग १ में आपको डाक संबधी चुनी हुई अच्छी सामग्री मिलेगी। यह बगाली कविताओ का एक वृहत् सग्रह है जो कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हुआ था और सभवत. अव अप्राप्य है। डा० दिनेश सेन की 'बगाली भाषा और साहित्य का इतिहास' में आपको डाक संबधी भी कुछ विवरण मिलेगा।

कभी कलकत्ते के अच्छे प्रेसों से डाक और खाना के छोटे-छोटे सग्रह बिकते थे। अव लोगो की रुचि भी इनसे उतरती जा रही है और ये अप्राप्य हैं अत: छप भी नही सकते। आपको डा० सेन की किताब से आवश्यक सूचना प्राप्त हो सकेगी और आसामी साहित्य का इतिहास भी इसमें सहायता करेगा।

बंगाली साहित्य का सर्वोत्कृष्ट इतिहास मेरे शिष्य डा० सुकुमार सेन (प्रो० कलकत्ता विश्वविद्यालय) का है। यह चार भागो में है। आप चाहें

तो लिख कर मँगा ले ।

कलकत्ता से 'डाकार्णव' नामक ग्रंथ डाक्टर नगेन्द्रनारायण चौधरी का सन् १६३५ में प्रकाशित हुआ है। उसमें तो लिखा है कि डाक किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नही है। यह तिब्बती भाषा का शब्द है जिसका सामान्यत: अर्थ तिब्बती भाषा के ग्डग (Gdag) शब्द का अर्थ प्रज्ञा अथवा ज्ञान होता है।

अभी-अभी सम्मेलन पत्रिका, भाग ४६ अ. ४ में श्री दयाशंकर पाडेय का लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें वे लिखते हैं—

'प० हसकुमार तिवारी ने अपनी पुस्तक 'बंगला और उसका साहित्य' मे लिखा है—डाक और खना के वचन मे ज्योतिष तथा क्षेत्र-तत्व की बाते भरी पड़ी हैं, साथ ही उनमें मानव-चरित्र की व्याख्या भी देखने को मिलती है। डाक को बंगला का सुकरात कहा जाता है। कहते हैं कि जन्मते ही डाक ने अपनी माँ को पुकारा था, इसलिए उसका नाम डाक पडा। बंगला भाषा में डाक का अर्थ पुकार होता है। कुछ विद्वान डाक का जन्म आसाम के 'लोहिडांगरा' में बतलाते हैं जो आज भी लोहू नाम से मौजूद है, किन्तु नवीन खोजो से पता चलता है कि आसाम का डाक कुम्हार था जबकि बगाल के डाक जाति के गोप (ग्वाले) थे। आसाम, उडीसा, बगाल तथा बिहार तक में डाक के वचन कहे और सुने जाते हैं। इनके समय के विषय मे भी प्रामाणिक तौर पर कुछ कहा नही जा सकता। इनकी भाषा को देखते हुए अनुमान किया जाता है कि इनके वचन तब के हैं, जब बंगाल बनने के क्रम में था। संक्षेप में कहा जाय तो इसमे वास्तविक बंगला भाषा की प्राक-प्रचेष्टा के निदर्शन हैं।'

तिवारीजी आगे लिखते हैं—'यह तो विश्वसनीय नही लगता कि यह व्यक्ति-विशेष का ही दान है। बौद्ध युग मे सिद्ध हो कर कुछेक पद बना लेने वाली को 'डाकिनी' कहा जाता था। यह डाक शायद उसी का पर्यायवाची शब्द हो। वास्तव में यह जातीय सम्पत्ति है और जाने-अनजाने इसमें हर व्यक्ति का सहयोग है।'

श्री आशुतोष भट्टाचार्य भी अपने वृहद ग्रन्थ 'बागलार लोक साहित्य' में लिखते हैं—डाक किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नही है। तिब्बती भाषा में डाक शब्द का अर्थ होता है प्रज्ञा या ज्ञान'। इस आधार पर डाक के वचन का शाब्दिक अर्थ हुआ ज्ञान की बाते (Words of wisdom)। बंगाल, आसाम तथा उड़ीसा तीनो ही स्थानो में डाक के वचनों का अत्यधिक प्रचार-प्रसार है। इन

तीनों ही प्रदेशों के कृषिजीवी समाज में इनका एक विशिष्ट व्यावहारिक मूल्य है। इसलिए बहुत प्राचीन समय से श्रुतिपरम्परा द्वारा आज भी ये प्रचलित हैं। कुछ विद्वान इनके वचनों को बंगला के प्राचीनतम साहित्यिक प्रयास के रूप में स्वीकार करते हैं।

श्री सुकुमार सेन अपनी पुस्तक 'वांगलार साहित्येर कथा' मे लिखते हैं— डाक के बचन बगला के प्राथमिक रूप में हैं जब वह प्राकृत की केंचुल छोड़ कर खडी होने के क्रम मे थी। उदाहरणार्थः—

बुन्द्धा वुभिया एडिव लुण्ड। आगल हैले निवारिव तुण्ड॥

डाक की रचनाये पढ कर कभी-कभी यह शंका होने लगती है कि डाक वस्तुत बगाल के कोई विशेष व्यक्ति अथवा जन-कवि थे। या कही ऐसा तो नही है कि हमारे चिरपरिचित घाघ ही बगाल में पहुंच कर डाक बन गये हो? और यदि दोनों वस्तुतः दो भिन्न व्यक्ति थे तो दोनों के साहित्य में अनायास मिलने वाले साम्य का अध्ययन सचमुच आश्चर्य की वस्तु होगी और इन दोनों का तुलनात्मक विवेचन न केवल दो भिन्न प्रान्तो को समीप लायेगा वल्कि वह भारतीय जीवन की अटूट एकता का परिचायक सिद्ध होगा। साथ ही भाषा, रीति-नीति एव आचार-विचार मे कुछ भिन्न दो प्रान्त एकता और आत्मीयता के सूत्र में कुछ और मजवूती से वँध जायेंगे। डाक तथा घाघ की रचनाओं मे आश्चर्यजनक साम्य के कुछ उदाहरण यहा दिये जा रहे हैं।

डाक कुगृहिणी का लक्षण बतलाते हुए एक स्थान पर लिखते हैं:—

घरे आखा बाहरे रांधे, अल्प केस फुलाइया बांधे।
घनघन चाय उलटि घाड, डाक बले ए नारि घर उजाड़॥

अर्थात् चूल्हा तो घर रहा, रसोई बाहर वनाती है। थोड़े से वाल हैं उन्हें फुला-फुला कर सँवारती हैं। वार वार गर्दन घुमा कर इधर-उधर निहारती है। यदि ऐसी स्त्री मिली तो घर उजाड समझिए।

चरित्रहीन नारी का लक्षण वतलाते हुए डाक पुनः कहते हैं:—

नियड पोखरि दूरे जाय, पथिक देखिले आउडे चाय।
पर संभाषे बाटे थिके, डाक बले ए नारि घरे ना टिके॥

अर्थात् पोखर पास रहने पर भी पानी लेने के लिए दूर जाती हैं, बटोही को तिरछी चितवन से देखती हैं, बाहर खड़ी-खड़ी बेगानों से बातें करती हैं;— डाक कहते हैं कि ऐसी स्त्री घर में कभी नहीं टिक सकती।

अब कुलक्षणी तथा चरित्रहीन स्त्रियों के लिए घाघ क्या कहते हैं, सुनिए :

साँझे ते परि रहती खाट, पडी भंडेहरि बारह बाट।
घर आगन सब घिन घिन होय, घघ्घा तजो कुलच्छनि जोय ।।

*

परमुख देख अपन मुख गोवें, चूरी कंकन बेसरि टोवें।
आंचर टारि के पेट दिखावें, अब.........का ढोल बजावें ।।

*

उलटा बादर जो चढ़ै, विधवा खड़ी नहाय।
घाघ कहै सुन घाघिनी, वह बरसै वह जाय।।

उपर्युक्त उद्धरणों से डाक और घाघ के वचनों में मिलने वाला अनोखा साम्य उल्लेखनीय है और यह इस सत्य का उद्घाटन करता है कि भारतीय गावों का हृदय दीर्घकाल से अपनी-अपनी भाषा में एक ही चिरन्तन भाव प्रकट करता आ रहा है। एक ही भाव थोड़ी-बहुत वेष-भूषा बदल कर सम्पूर्ण भारतीय जीवन में अटूट भाव से शताब्दियों से चला आ रहा है। आज आवश्यकता इस बात की है कि डाक तथा घाघ के वचनों का प्रामाणिक संग्रह तैयार कर उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय।

वास्तव में ही उत्तर भारत के सभी प्रान्तों में डाक एवं भड्डुरी के जो वर्षा सबधी पद्य प्रसिद्ध है उन सबका प्रयत्नपूर्वक सग्रह किया जाकर तुलनात्मक एवं विवेचनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिये। बीच में मैंने सुना था कि उत्तर प्रदेश सरकार इस दिशा मे प्रयत्नशील है पर अभी तक उसका परिणाम प्रकाश में नही आया। घाघ, खाना, सतदेव आदि के पद्य एवं कहावतो का संकलन किया जाकर वास्तविकता का पता लगाना आवश्यक है। लोक साहित्य से भारत को ही नही, विश्व की एकता को बल मिलता है और डाक एव भड्डुली वाक्य आज लोक साहित्य के रूप मे प्रसिद्ध हैं। ग्रामीण एव कृषक लोगों को वे वाक्य बहुत ही उपयोगी एव लाभप्रद प्रतीत हो रहे हैं। विद्वानो की राय मे घाघ तो १७-१८ वी शती में हुए हैं पर डाक व भड्डुली तो १५ वी से पहले की मेरी खोजो से सिद्ध हो चुके हैं।

डा० शिवगोपाल मिश्र ने 'विज्ञान' मई ५८ के अक मे 'भारतीय कृषि का विवरण' नामक लेख प्रकाशित किया है। उसमे घाघ एव भड्डुरी के उद्धरण देते हुए इन दोनो को जन-श्रुतियो पर भी अच्छा प्रकाश डाला है। पाठक उक्त लेख को पढ कर विशेष जानकारी एव इनके वैज्ञानिक महत्व की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

भड्डुली की प्रतियां एवं प्रकाशित संस्करण

भड्डुली की न्यूनाधिक पद्यों वाली पचासों प्रतियां मिलती हैं जिनमें १८वी, १६वी शताब्दी की लिखी हुई अधिक हैं। १७वी की भी कुछ मिली हैं पर इससे पहले की तो दो-चार प्रतियां ही प्राप्त हो सकी हैं। मुनि पुण्यविजयजी वाली सब से प्राचीन प्रति कागज और लिपि को देखते हुए १५वी शताब्दी की है पर उसमें सवत् का उल्लेख नही है। सौभाग्य से अभी जोधपुर जाने पर लोकहिताचार्य की ज्योतिष संबंधी 'स्वाध्याय संग्रह पुस्तिका' की प्रति संवत् १४२६ की लिखी हुई मिली है। उसमें भी भड्डुली के कई पद्य हैं। इससे इन पद्यों की प्रसिद्धि सं० १४२० के पहले भी अच्छे रूप में हो गई थी, निश्चित होता है। मुनि जिनविजयजी के पास जयपुर में एक प्राचीन (१५-१६वी की) सग्रहीत प्रति के कुछ बीच के पत्र देखे थे, उनमें भी भड्डुली के कुछ पद्य थे। जिस प्रकार जैन विद्वानों ने भड्डुली वाक्यों का समय-समय पर संग्रह किया उसी तरह एक बुधमान सारस्वत ब्राह्मण ने भी संग्रह किया था। उसकी प्रति दिगम्बर ठोलिया मंदिर, जयपुर से प्राप्त हुई है, जिसमें ३१६ पद्य हैं। आदि-अन्त इस प्रकार है—

आदि—श्री गुरु प्रणमु सारद माय, गणपतजी के लागूं पाय।
जो समयो अरु दीसै अग्ग, तैसो सवण जु कहिये सग्ग॥
प्रथम कहै इण ग्रन्थ को, ज्योतिष सबै जु देखि।
लाभ अलाभै वर्ष को, कहै सवण सविशेष॥

अन्त—भाडलि वायक ग्रंथ जे, भणसी चतुर सुजाण।
ते आगम कैसी सदा, इम बोले 'बुधमान'॥ ३१५
सारस्वतेन विप्रेण, बुद्धमानेन धीमता।
परोपकारणार्थाय, संग्रहं सारमुत्तमम्॥ ३१६

इति भड्डुली विचार—सवत को समया को विचार।

प्रकाशित सस्करण—इसका सर्वप्रथम प्रकाशन मेरी जानकारी में सं० १६२७ म मिश्र भगवानदास ने 'शगुनावलि' के नाम से किया था। उसमें इसे सहदेव-भड्डुली कृत बतलाया था। सहदेव के ज्योतिष और वर्षा संबंधी पद्य जयपुर वाली उपरोक्त प्रति में भी मिलते हैं। श्री रामनरेश त्रिपाठी की घाघ और भड्डरी के अतिरिक्त श्री रामलग्न पांडेय की भी इसी नाम की पुस्तक हिंदी साहित्य मंदिर, बनारस से प्रकाशित हुई है। श्री कृष्ण शुक्ल की घाघ और भड्डरी की कहावतें, पं० सीतलाप्रसाद तिवारी की खेती की कहावतें, श्रीचंद

जैन आदि के ग्रंथ भी प्रकाशित हैं। स्वामी नरोत्तमदासजी ने 'राजस्थानी' भाग २ में इन वर्षा सम्बन्धी कहावतों को प्रकाशित किया था। डा० उमेश मिश्र ने हिन्दुस्तानी में डाक के मैथिल पद्यों को छपवाया था। वैसे 'मैथिली डाक' और 'डाक वचनामृत' भाग १-२-३ भी मैथिल प्रदेश में छपे हैं। बीकानेर के डा० जयशंकरजी ने वर्षा विज्ञान सम्बन्धी कहावतों का अच्छा संग्रह किया है। उनका एक लेख 'राजस्थान भारती' मे छपा है। १७-१८ वी सदी में हिन्दी पद्य-बद्ध 'मेघमाला' 'संमतसार' आदि कई ग्रंथ-रचनाएँ हुईं जिनमे जैन कवि मेघ रचित 'मेघमाला' छप चुकी है।

# अचलदास खीची री वचनिका : एक विश्लेषण

डा० हरीश, एम. ए., डी. फिल्.

लौकिक काव्यों में १५वीं शताब्दी की एक विशिष्ट कृति 'अचलदास खीची री वचनिका' है। यह कृति प्राचीन राजस्थानी की है। इस कृति की हस्तलिखित प्रति अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर में सुरक्षित है। पूरी रचना एक ऐतिहासिक काव्य है जिसमें कवि ने बात शैली का प्रयोग किया है। काव्य की भांति बात शैली के अंतर्गत आने वाला इसका गद्य भाग भी महत्वपूर्ण है जिस पर आगे प्रकाश डाला जायेगा। पहले कृति के काव्य भाग का विश्लेषण प्रस्तुत कर रहा हूँ।

अचलदास खीची री वचनिका के रचयिता श्री शिवदास हैं। शिवदास चारण थे तथा राज्याश्रय में रह कर ही उन्होंने यह वचनिका लिखी। कोटा राज्य के अंतर्गत गागरोण के शासक श्री अचलदास ही इनके आश्रयदाता थे। कवि शिवदास का समय टॉड तथा तैस्सीतोरी सं० १४७५ मानते हैं और मोतीलाल मेनारिया सं० १४८५। जो भी हो, यह निर्भ्रांत है कि रचना १५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के तृतीय चरण की है। इस रचना की प्रतिलिपि अभय जैन ग्रथालय में भी है। रचना १२१ छन्दों में पूरी हुई है।

अचलदास खीची री वचनिका शौर्य और मान-मर्यादा से अनुप्राणित वीररस-प्रधान काव्य है जिसमें कवि शिवदास ने अपने आश्रयदाता के स्वयं युद्ध में उपस्थित रह कर यथार्थ से गहरा सम्बन्ध रखने वाले आंखों देखे रोमांचक चित्र उपस्थित किए हैं। कृति का कथा भाग इस प्रकार है—

'प्रस्तुत वचनिका एक युद्ध-प्रधान खण्ड-काव्य है, जिसकी कथा ऐतिहासिक है। पूरे काव्य में कृतिकार ने अचलदास की आदर्श वीरता के चित्र उतारे हैं। माण्डू के मुसलमान सुल्तान ने गागरोण को अपने अधिकार में करना चाहा।

उसने अचळदास को अधीनता स्वीकार करने को बाध्य किया। राजपूती खून उबल पडा। मर्यादा की मुस्कान और जननी जन्मभूमि की रक्षा में राजपूत तत्पर हो गये। अचळदास ने युद्ध के लिए ललकारने का सदेश भेजा तथा आक्रमण को रोकने के लिए किले के द्वार बंद करवा दिए। दोनों दलो में घोर युद्ध हुआ। भयंकर मारकाट के पश्चात् अचळदास स्वयं वीर गति को प्राप्त हुए। अचळदास के बलिदानो रक्त से भूमि रंग गई। शेप सभी राजपूतों ने उस जौहर मे अपने प्राणों की आहुति दी। कवि श्री शिवदास चारण भी युद्ध में अपने आश्रयदाता के साथ थे। अन्य सभी राजपूतों को जौहर करना पड़ा परन्तु राजकुमारों के जीवन-निर्माण के लिए तथा अपने आश्रयदाता की इस वीर गति को वाणी देकर अमर कर देने के लिए शिवदास को जौहर से मुक्त होना पड़ा और क्योकि यह युद्ध स० १४८५ के आसपास ही हुआ था, अतः अनुमानत. रचना का सृजन भी इसी काल में हुआ होगा।'

अचळदास खीची री वचनिका का कथानक इस दृष्टि से दो भागों मे विभाजित किया जा सकता है। एक तो युद्ध भाग और दूसरा जौहर। इतिहास से तो सामान्यतः कई भ्रम फैलाए जा सकते हैं, परन्तु कवि शिवदास ने स्थान-स्थान पर ऐतिहासिक सत्यो की रक्षा कर कृति का महत्व और अधिक बढ़ा दिया है। यही नही, उसने अपनी अभिव्यक्ति को ईमानदारी से वाणी देने के लिए माडू के बादशाह की सेना का वर्णन पहले किया है। ऐतिहासिकता तथा वीरगाथात्मकता का वर्णन करने वाली यह बचनिका अपने ही प्रकार की अनूठी रचना है।

पूरी कृति कविता और बात दोनो शैलियो मे लिखी गई है। यों वचनिका भी राजस्थानी गद्य की एक शैली विशेष ही है। बात शीर्षक से कवि ने जहां-जहा रोमाचक चित्र खीचे वे इसके गद्य की सजीवता के जागरूक उदाहरण हैं। पूरी रचना चारण शैली मे लिखी गई है। यो भी तत्कालीन रचनाएँ चारण और जैन इन दो शैलियों में विभक्त की जा सकती हैं। अजैन लेखकों ने जैन शैली में और कुछ जैन लेखकों ने चारण शैली मे भी लिखा है। परन्तु अधिकतर जैन लेखको ने वर्णन की चारण शैली नही अपनाई और इस ओर उदासीनता रखने से ये जैनेतर लेखको से अपेक्षाकृत इस क्षेत्र में शिथिल दिखाई पड़ते हैं।

अचळदास खीची री वचनिका इस दृष्टि से चारण शैली में लिखा एक सफल काव्य है जिसमें कवि का गद्यात्मक काव्य और काव्यात्मक गद्य का सशक्त रूप परिलक्षित होता है। १५वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ऐसी कृतियों

का मिलना आदिकालीन साहित्य की श्रीवृद्धि मे एक महत्वपूर्ण चरण का प्रतिष्ठापन है।

पूरी रचना काव्य, गाहा, दूहड़ा तथा गद्य, वात आदि में लिखी गई है। रचना अद्यावधि अप्रकाशित थी, परन्तु श्री नरोत्तमदास स्वामी ने इसका सम्पादन कर इस कृति के पाठ का उद्धार किया है। इस दृष्टि से स्वामीजी का प्रयास अत्यन्त प्रशंसनीय है।

### काव्य-सौष्ठव

रचना का प्रारंभ, कवि युद्ध की स्वामिनी महिषासुरमर्दिनी महादेवी भैरवी तथा सरस्वती दोनों को नमन कर के करता है। कवि ने सरस्वती से पहले दुर्गा को सिर नवाया है। इससे काव्य की युद्ध-प्रधान प्रवृत्ति और चारण शैलीपन स्पष्ट होता है। रचना की प्रारंभिक वदना देखिए—

तउ वीस हथि विरोळि पं वीस-हथ विरोळियइ
भावठि भार्म तू तणइ हिज्यों सुकाइ होणोळि
पउढ़िम परहमियाह आरंभकरि ऊपरि असुरू
देवि दुवारि पियाह वीनतियाइत वीस हथि
महिषासुरि जू माई मर जइ महिषासुर मरइ
सुर छूटे सु माहिइ बार तुहारी वीस हथि
जपइ तुहालइकाळि डहडहिया डमरू तणा।
छाडे असुरि सु भाळि तं बाजा रथि वीस हथि
रामाइण ही रामि कीयो जं हुओ कन्है
सकति विहूणो सामि विढण न होई वीस हथि।

कवि सरस्वती को गीत, नाद गुणयुक्त तथा कवियों को दीप्त करने वाली कहता है तथा उसी की कृपा से इस कथा को ग्रथ रूप मे निबंधन करना चाहता है।

अथ गाहा

ताम गणवं नमो चचरणाइ वीणा पुस्तिक धारणी कासमीर कंदरिवसंती
गीत नाद गुण गाह दियण देस कवियण दीवन।
साह सारदा मनि सुवरी बाधउ पय अपार
सूरत रानउ अचळ कउ गउदाळंभ सिणगार।—७

अचळदास की कथा ने कवि के काव्य-गुण में सोना और सुगन्धि को साकार कर दिया है, ऐसा शिवदास का कहना है। गुणियों मे श्रेष्ठ अचळदास ही शिवदास कवि का सच्चा मूल्यांकन कर सकता है। रचनाकार ने अचळदास के

विरोधी मांडू के सुल्तान की सेना का प्रारंभ में ही वर्णन किया है। एक उदाहरण प्रवाह के लिए देखिए—

अथ दूहड़ा

उत्तर दक्षिण देस, पूरब नै पछिम तणा
खडिया खउदलिम कटक, नमिया सवळ नरेस
हरकंप हिकार, घर घर प्रति हूबी घणउ
मिळिये भडपराइ, कइ कुण ऊपरई खंघार
तैं पतसाह तणोह, पायाणौ पारंभ सुणोह
हळिहळिहिया हेकाण नै गढ़पति गमे गमेह
तहि संचलते सूरू, धूघळियउ घर घमघमी
...खीची दिसे कीवा पयाण पूरू।—१०–१३

मुसलमान सैन्य के साथ-साथ कवि ने हिन्दू राजाओं के यश का भी वीररस-पूर्ण वर्णन किया है। रावराजा मृगेन्द्र की भांति शौर्यवान नृसिंहदास का कटक भी वर्णनीय था। कवि ने—अथ दूहों एक कुण्डलिया एक—लिख कर दोहे और एक कुंडलिया छंद में नृसिंहदास के कटक का वर्णन किया है। एक ही वन में निवास करने वाले मृगेन्द्र और हाथी के शौर्य की भला क्या तुलना? हाथी तो बिक कर गली गली घूमता है पर सिंह को इस मोल कभी कोई खरीद सकेगा?

अथ दूहा एक कुण्डलिया एक

अकेइ बनि बसतडा एवड अन्तर काइ
सीह कवड्डी न लहै गैंवर लाखि बिकाइ
गैंवर गळिइ गळथियौ जइ खर्च तह जाइ
सीह गलथण जे सहै तउ दह लखि विकाइ
तउ दह लखि बिकाइ मोल जाणबि मृहगैरा
कडवा कारणि कथिन कोपि खउदालिम केरा
वेढ़ि कीध पडिया रनि हसि कटारउ दुहु कर
राइ न ग्रहण नरसंध गळह गळहथ जउ गैंवर।—१७–१६

युद्ध में खीची परिवार के समस्त सिंह आ जुडे। आसपास के राजा भी स्वामी पर आई इस आपत्ति को सहन करने को तय्यार नही थे। छत्तीस कुलो के सभी भाई जुड आए। हम्मीर की भांति युद्ध के अनेक हठी राजाओ ने आकर इस युद्ध-स्थल को सुशोभित किया। समस्त सैनिक अभय थे। एक दिशा से असुर चढ़ आया और दूसरी दिशा से मानो सपूर्ण परिवार ही समरांगण के अर्पित कर दिया गया। अचळेसर के साथी सैनिकों का कवि ने पर्याप्त सजीव तथा सरस वर्णन किया है।

आलम का अडसाळ ईखे गूडर आसना
गढ काना गढपति क्न्है वृद्ध अस तरण वाळ
हव साहियो न होइ मरण हुवै गढ मेल्हिइ
आखइ अचळेसर हसउ संत महुत मइ कोइ
गढ गरवाइ गाव लेखउ जाइ लंकाळ गइ
चादउ ही चालइ नही गढ तजि गोरी राव
ऊंचा दुग्ग असेस छळि वळि किणी न छूटही
लीधा वळि लागी करि साहि आलमि सहि देस
जगणपुरउ ज्यो ज्यो करइ, किसउ कलाकमार
तणी पटउळइ भांति कवही न पडइ कावळइ
सरि गोरी राव क्यो सरह जीहइ जाति न पांति
साहण लाख न सार पैदल पार न पामिये
गुडिये गोरी राव कहि मैंगळ सबळ अपार
अचळेसर अपार दळ सजियो दाणव तणौ
लका लेयणहार काय मोरी राव गागुरणि
आलम तइ आयाह विग्रह हुवै कीध विढणि
अचळेसर गढ अवछेड जीव ले मोकलि जाह
तउ तूवर दिसि ताणि अमि काइ कछवाह दिसि
अचळ अडे आलम सरिस अत आपरउ न आणि।—३२-४१

यही नही, शत्रु से कुल की लाज लोप न जाय इसलिए खीची-कुल के सभी सूरमा उत्साह मे चूर होकर प्रतिज्ञाएँ कर रहे थे। साथ ही अन्य सहयोगी राव उमराव अपने सहयोग को विभिन्न वीरतामूलक उक्तियों द्वारा स्पष्ट कर रहे थे। भाई भाई को छोड कर चला और वेटा वाप को छोड़ कर। अचळेश्वर कटक को लेकर आगे वढे। वर्णन मे उत्साह मात्र का प्राधान्य और चारण शैली का चमत्कार देखिए—

नवइ न खीची नीव गढ थी गढ मेल्ही करी
धह हुई उपरावठी, मीघ गई तजि सींव
मिर्व कुळ की लाज, लाज लोपि लोकेसवर
स्वामि कथन आई सुणण तणि मौजावुत भाज।—४४-४५

×

बहु बेगुक अरसत कोटे कछवाहो कहै
तो माडोछोड सतहइ हइ कोसीमा कत
भलउ मत्र भडियाह बोलइ गागुलि बागडणि
सउकि तणउ पीहर सदा ह्वं नि सवादउ नाह

नाह तणउ नर लोय मृत जाणियो महासती
अनमेल्ही मेल्हउ उदक, तूबरिणि दिनि दोइ
अति लहवो तदि आप डरपायउ डरपी करी
चादउ ही चालह नही, बेटउ अब छडि बाप
नीमनियउ मनि माह भाई घरि भोजा तणइ
प्रजा कोध मन पाधरा मरण देखि मारिवाह
बापेता विरदइत छलि धरि कुली छतीस ही
चाल्या स्वामि समाणसी सउ माणस साखइत
एकि पाल्हा की पूठि, पूठि एकि पातल तणी
उलिगाणा आगी हुवा अत दिन बेळउ ऊठि।

कवि ने आलमशाह की सेना के हाथी, घोड़े, पैदल आदि सभी की गणना अनुमानतः प्रस्तुत की है। सुलतान मानो दूसरे अलाउद्दीन की भांति दिखाई पड़ता था।

बारं बारह लखन छेवड पैदल मदिमत्ति चवरासी मइगल
साहण सहस तीस अर तेरह आलमसाह अडीचउ फेरह। ६७

युद्ध में दोनों दल आ जुड़े। भयंकर मोर्चाबंदी हुई। राजपूतों को षोडसी रानियां अपने वीर पतियो के हाथों के असाधारण वारों को देख देख कर मुग्ध हो जाती थी। यही नही, बूढी रानिया, भोली अबलाएँ तथा प्रौढ़ स्त्रिया भी अपने-अपने देवर, जेठ, पति आदि के पुरुषार्थ को मुग्ध नयनों से देखती फिरती थी। गागुरणि इस समय समरस्थली अथवा वैतालपुरी की भाति हो रही थी। युद्ध-स्थली का नायक अचलदास युद्ध-भूमि में छत्र चँवरसहित इस प्रकार का बाका वीर दिखाई पडता था मानो साक्षात हम्मीर ही बैठा हो। दोनो ओर की सेनाओ की समरागण में मोर्चाबदी तथा भीषण मारकाट के वर्णन कवि को शौर्यपूर्ण, उत्साहपूर्ण अथवा सजीव अनुभूति के चित्र है। कवि ने योद्धाओ के वीरतापूर्ण भयकर मारकाट के अनेको साकार एवं रोमांचक चित्र उतारे हैं। वर्णन की चित्रात्मकता तथा सजीवता कवि के रसावला एव गाहा छंदो में स्पष्ट दृष्टव्य है—

अथ रसावला

विहू छेडि बाणावळी, सर पुंडिग सळळी
भणी भणी अतुली, खग खगा खळी
रुधिर धार रळतळी, वहू नाचे कुमुध महावळी
माळ भुं मानावली, आलम अचळ सर पड्या बिनै इम संगमळी
सहै कुण सुभरी, एक एक ऊपरी

लागइ लागइ खरी, ठाइ नह ठाठरी
दिन रात न जागइ दूमरी, नीद भूख त्रिस बीसरी
खींदाळि खीची खरी सैन विने इम संमिरी ।—७०-७१

अथ गाहा

इण परि सहस सहस देह तूटै
पग पग अडं न पग अवहट्टं
आलम अचळ सैन अवहट्टं
कनक जिहि रहि रहि कसवट्टं ।—७२

अथ दूहड़ा

आलमि अचळेसरि पडया एही एक अवक्क
पिंडि जेता हीदू पडं तेता सहस तुरक्क ।—७३

उक्त वर्णनों द्वारा रचना मे वीर रौद्र तथा वीभत्स रस की निष्पत्ति स्पष्ट है। वर्णन की ध्वन्यात्मकता तथा अलंकारिता, विभिन्न दृष्टान्तों और वर्णनों की साकारता तथा चित्रात्मकता यथार्थ एवं साकार हो उठी है। युद्ध मे शिवदास अचळेश्वर को छलकते प्याले पिलाते थे। उनकी ऐसी उक्तियां अनेक हैं, उदाहरणत एक देखिए—

जस जावड मल जाह पूत न होइ पाहरू
तिण ताटी हर ताह जळियो जाइलहर घणी ।—८४

इस प्रकार युद्ध में विपक्षी दल का बहुत भयकर सामना किया गया। रणक्षेत्र में विभिन्न प्रयोगो द्वारा खीची के सैनिको ने शौर्य दिखाया मानो भूम-भूम कर, मुड-मुड कर जुड़े हुए किवाड़ खोल दिए गए हों। वर्णन कवित्त के अंतर्गत किया गया है। पाल्हणसिंह के खेत रहते ही राय का हृदय भर आया, अश्रु-धारा वह चली—

पाल्हणसी पुह्विहि रहयो घनि समहरा मगि
तिणि वेळा हीया भरी राइ राइ रोवण लगि ।—९०

अथ कवित्त

पाल्हो कउणइ पडं, कउण जम जातो वारं ?
कउणइ बथ भेलियो, कउण गिरि बीअ गहारइ ?
अबेर दिणि अखियै, थाम कुण कुं दळ आलइ
उबह कवण उलथइ, कउण अउ मरया झोलइ
एसरी बात कुण आगमे, कउन जम गलिमो जुई
कामाउर बर दळ विरुळ, कोण धणी बलि ऊहरइ ।—९२

भयंकर मारकाट कर के राजपूतो के प्राणपण से युद्ध करने पर भी सुल्तान की सेना को विजय हाथ लगती दिखाई न पड़ी । डूंगरसिंह, मोकलसिंह, पालणसिंह जैसे विकट योद्धाओं को भी मुसलमानी युद्धजन्य तरीकों के सामने झुक जाना पड़ा । अचळेश्वर स्वयं वीर गति को प्राप्त हुए पर मरते समय भी उनके कान में यही सुर थे—राजपूत पुरुष और स्त्रियां जीवित रूप में मुसलमानों को आत्म-समर्पण नही करेंगे । अन्त.पुर से जौहर के धुएँ की लपटें मुसलमानों को इस हार का आत्मसम्मानपूर्ण करारा उत्तर देंगी—हुआ भी यही । कवि ने अचळदास की वीरोचित मृत्यु का तथा राजपूतों की इस धूमिल तथा असंगत स्थिति का मार्मिक वर्णन किया है—

पीनाविये चहुवाणि जउहर को मांडउ जुगति
हव हुवस्यां हरपुर दिमा वगा वगि विहाणि ।

×

*हाडा खीची हेक सोलंकी सूरिजवंसी*
सुणिसै मृत माहरी सदा मवरे राय मनेक
गदा भाइ मजगोम कहि, कहि मचळेसर कहै
बहु पहु मूभ कमाणिस्यं, सुणिया बंम छतीस ।

और अत में कवि ने समस्त रानियों को जौहर की धधकती ज्वाला का शृंगार कराया है । वर्णन का सौन्दर्य और वीर रस का कारुण्य दृश्य वहा प्रस्तुत होता है जहा गुमुगी पोडमी वालाऐं हँसती-हँसती जौहर कुड के स्फुलिंगों से अपनी मांग को सजा लेती हैं । वर्णन का प्रवाह रचना के उत्साह को वीरोक्तियों का दलपता समृद्ध बना देता है । जौहर का साकार, वीरतापूर्ण, रोमांटिक तथा स्पृहणीय वर्णन अत्यन्त सजीव है । काव्य-सौंदर्य देखिए—

तई सव सीधी सोढि, नचली सग मागी नहो
उसिम मयिमा एन मवरीधा जउहर कोडि
म्यामोहै वर वीर, परि परि मन देसै पचउ
पाडो राइहरि पातरइ गमहरि धपळ मधीर
मोटै मन महिलाहि पचटागरि पायं हुवे
गींगल हरि हुई मांगुधी बहुवाव लिरि विवाहि
वेटा तिलि क गुसाति पहइली पूपा वगद
लगी पांवर उटिनी धगद बाली पानि ।—१०१-१५

×

जउहर कासल हरि धनद अइद नाइ ऊवर्ई
हरि हरि हरि होई रहुवो विनय विनय तिति वांति

पुहवि न पारावार गढ अनियं गार्वा तणा
सुर तेतीसइ सम घरणि दणियर देखणहार
सीवण हूरं छछोहि श्रामोलकि घरि श्रापणउ
जौहरि श्राधउ जाळियौ सहचौ श्राघौ लोहि। ११०-११२

×

सातल सोम हमीर कन्ह जिम जौहर जाळिय
चढ़िय खेत चहवाण आदि कुळवट उजाळिय
मुगुत चिहुर सिरि मडि वपि कंठि तुळसी वासी
भौजाउति भुजवळहि करिहि करिमर काळासी। १२१

इस प्रकार कवि ने अचळदास की कीर्ति को अचल कर काव्य की समाप्ति की है।

गढि खडि पडति गागुरणि दिढ दासे सुरिताण दळ
संसारि नाव आतम सरगि अचळ वेवि कीधा अचळ। १२१

रचना की प्रतिलिपि का प्रामाणिक वर्णन कृति की पुष्पिका में मिल जाता है।[1] वस्तुत पूरा काव्य वीर रस की एक उत्तम निधि है जिसमें कवि ने वीर-पूजा और जौहर द्वारा तत्कालीन समाज की पारस्परिक युद्ध नीति, राजपूतों की स्थिति, आत्मसम्मान की रक्षा के लिए जौहर एवम् मृत्यु-वरण तथा आदर्श युद्ध-प्रेम आदि प्रवृतियो को स्पष्ट किया है। वास्तव में अचळदास खीची री वचनिका जीवटपूर्ण वीर-गाथा का जैनेतर काव्य है।

यह तो हुआ प्रस्तुत काव्य की काव्य-सुषमा का विश्लेषण। अब इसके गद्य भाग का भी संक्षिप्त अध्ययन यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

### अचळदास खीची री वचनिका और उसका गद्य

अचळदास खीची री वचनिका का जिस प्रकार काव्य-ग्रंथो में स्थान है ठीक उसी प्रकार इसका गद्य ग्रथो में अक्षुण्य योग-दान है। चारण कविवर शिवदास ने काव्य की भांति इसमें गद्य का भी सुन्दर अभिनिवेश स्थापित किया

---

[1] संवत १६३१ वर्षे श्रावण सुदि ८ सोमदिने घटी १६ पल ३५ विशाखा नक्षत्र घटी २१।४४ ब्रह्मनामा योग घटी ५४।१० अचळदास खीची री वचनिका महाराजधिराज महारद श्री रायसिंहजी विजैराज्य जोणिपाड़ा गाव मध्ये महाराजधिराज महारद श्री जाघा तत्पुत्र वीदा तत्पुत्र राज श्री ससारचंद्र तत्पुत्र श्री सागा तत्पुत्र राज श्री सांवळदास लिखितम्। पठनार्थ। शुभ भवतु। कल्याणमस्तु॥ श्री रामचंद्रजी। (प्रतिलिपि लेखक को उपलब्ध हुई—अभय जैन ग्रंथालय बीकानेर के सौजन्य से।)

है। अचळदास की वीर गाथा को श्री शिवदास ने गद्य में प्रस्तुत कर रचना को जन-साधारण के लिए और भी बोधगम्य बना दिया है।

कृति का गद्य अत्यन्त प्रवाहपूर्ण है तथा वचनिका शैली में लिखा गया है। वचनिका शैली गद्य की काव्यात्मक शैली होती है। अचळदास की यह वचनिका गद्य-सौन्दर्य को वाणी देने वाली अनूठी कृति है जिसकी कथावस्तु ऐतिहासिक है।

अचळदास खीची री वचनिका में ठीक उसी प्रकार का गद्य भाग मिलता है जैसा पद्मनाभ के आदिकालीन राजस्थानी प्रबंधकाव्य, महाकाव्य, कान्हडदे प्रबंध में बीच-बीच में गद्य भाग मिलता है। यही नहीं, बल्कि ११वीं शताब्दी में उपलब्ध रोडा या राउल कृत शिलालेख में भी[1] आधा भाग काव्य में और आधा गद्य में उपलब्ध होता है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि कदाचित रचना में पद्य और गद्य शैलियों में वस्तु-वर्णन या कथा-वर्णन करने की यह प्रवृत्ति उस काल में वर्णन की एक विशिष्ट शैली ही रही होगी।

अचळदास खीची री वचनिका का गद्य भाग—अथ वात वळे वात बिरदावळी आदि शीर्षकों के अंतर्गत लिखा गया है। प्राचीन राजस्थानी के प्राचीन जैन-अजैन कवियों द्वारा प्रणीत वात और वचनिका शैली का यह साहित्य इतना अधिक समृद्ध है कि इस पर कई प्रबंध लिखे जा सकते हैं। ये कृतियां वात, ख्यात और वचनिका नाम से हजारों की संख्या में उपलब्ध होती हैं तथा अद्यावधि अप्रकाशित हैं, जिनमें यह विशाल साहित्य रचा गया है।

अचळदास खीची री वचनिका गद्य और काव्य दोनों रूपों में पर्याप्त सक्षम है। कवि ने इस वीर-पूजा काव्य को जिस प्रकार काव्य में संजोया है ठीक उसी प्रकार इसकी कथावस्तु को अत्यन्त स्पृहणीय ढंग से गद्य में भी लिखा है। पूरी रचना की कथावस्तु में लेखक ने गद्य भाग में केवल मात्र युद्ध और सज्जा-वर्णन ही किया है। जौहर-वर्णन काव्य में किया गया है।

माण्डू के सुल्तान ने गागरोण (कोटा राज्य के अन्तर्गत) पर चढ़ाई करदी। अचळदास एवं उनके सहयोगी उप-शासक युद्ध में हजारों मुसलमानों को मार कर वीर गति को प्राप्त हुए और उनकी स्त्रियों ने जौहर कुंड की धधकती ज्वाला में प्रवेश कर वीरोचित गति को प्राप्त किया। राजा अचळदास खीची

---

[1] देखिए—हिन्दी अनुशीलन का धीरेन्द्र वर्मा अभिनंदन ग्रंथ १९६०, में डा० माताप्रसाद गुप्त का रोडा या राउल कृत शिलालेख शीर्षक लेख।

री इस यश-प्रशस्ति को चारण कवि एवं वाती लेखक श्री शिवदास ने कृति को काव्य और वार्ता में ढाला है। वर्ण्यवस्तु गद्य और पद्य दोनों विधाओं में समान नहीं है। पद्य में अधिक है। गद्य में भी पद्य की भाति लेखक का अपने आश्रयदाता की युद्ध-कलाओं, वीरोचित निष्ठा तथा उत्साह-प्रधान उद्‌भावनाओं का आंखोंदेखा चित्रण है। गद्य का प्रवाह, उसकी चमत्कारिकता अत्यन्त सवल, सरस तथा धारावाहिक है। वर्णन-क्रम में कहीं शैथिल्य नहीं है। पद्य की भाति गद्य मे भी वीर रस सर्वत्र एकरस व्याप्त रहता है। गद्य-वर्णन में कहीं-कहीं अतिशयोक्तियां और कल्पना-प्रधान अतिरंजना मिलती है। इसका मूल कारण कृतिकार का मूलतः कवि होना है। यों तो उसकी ऐसी कल्पना-प्रधान अतिशयोक्तियां उसकी काव्यात्मकता में भी देखी जा सकती हैं।

रचना में लेखक ने पहले युद्ध की साजसज्जा का वर्णन किया कि आदर्श वीर वही है जो प्रबल शत्रु के आक्रमण का उत्तर उतने ही सशक्त रूप में दे। गद्य में भी लेखक ने अपने आश्रयदाता के प्रतिद्वन्दो शत्रु मांडू के मुल्तान की सेना का परिज्ञान करने के लिए रचना में सुल्तान की सेना का वर्णन पहले किया है।

कृति के प्रारंभ में ही वह अपना नाम स्पष्ट कर देता है। वर्णन की प्रासादिकता तथा सरसता उसकी गद्य-सुषमा की परिचायक है। कवि आश्रयदाता तथा स्वय के जीवन की ओर सकेत करता है—

### अथ वात

अेक सीह नै पाखरचौ। सूर सिहाइति आवरचौ। पचाम्रत अमी परगस्यौ। महादान आछइ घडइ। दूध माहि साकर पड़ै। सोनो अर सुवास एक अचळ कथै सिवदासु। अव चारण कहै—ए वडी वडाई तो आपणी पाहै वूझाई नहै, सु ए तरेहि जु कारणै। आगिळिउ राज सभा सहित सुचित हुइ सुणाइ। तउ सु कवि कुकवि की पारिखा कपै जणै (८-६)

दोनो पक्षों की सैन्य का तुलनात्मक वर्णन देख कर दोनो दलों की शक्ति का अनुमान लगा लीजिए। कवि ने सुल्तान की सेना का वर्णन पहले और अचळदास की सेना में लड़ने वाले सहयोगी शासक राजा नृसिहदास तथा विभिन्न रावराजाओ का वर्णन फिर किया है। दोनो का तुलनात्मक तथा चित्रात्मक सरल वर्णन देखिए—

### अथ वात

**(बादशाह का सैन्य वर्णन)**

१. इरत्यौ खुउंदालम गोरी राजा वारह लख माळवा रो चकरवरती।

धनि धनि हो राजा अचळेसर थारो जीयो। जिणि पातसाह सउं खांडउ लियौ। तेणि पातसाह आयां सांतरो सत छाडै नही। खत्र खांडइ नहीं। हीण न भाखइ। पागार लंघित न होइ। तर ते राजा अचळेसर सारिखा अचळ नै अचळेस ही होई। अचळेसर तउ किसउ? उत्तर दक्खिण पूरव पछिम कउ भड़ किंवाड़। आइन्या अजइपाळ। अहंकारि रावण। दूसरउ धारू। तीसरउ सिंघण। छइ दरसण छैयाणव पाखड कउ आधार। बाळज चकरवति। (२७-२८)

बादशाह का दल अचळेश्वर की सेना पर टूट पड़ा। प्रलय मच गया। दिशाएँ डोलने लगी। अम्बर में इतनी गर्द छा गई कि सूर्य के दर्शन भी दुर्लभ हो गए। न हाथियो का पार, न घोडों का। एक उदाहरण देखिए—

इसा एक ते पातसाह रा कटकबध अचळेसर ऊपरि छूटा। बाट का खड़ ईंधण खूटा। दह का पाणी तूटा। परबतां सिरि पंथ लागा। दुघट भागा। सूर सूझै नहीं खेह आगा।

हैवर गैंदवर पाइदळ, पुहवि न पारावार।
गोरी रावगिर आसनउ, गउ गढ गंजणहार॥

इसा तै पातसाह का कटकबध होइ चुट कोस माहि।

(अथ बिरिदावत)

वाहरि साहि झाड, साहि बिभाड, वळियां साहि कधि कुदाळ, सबळ साहि मान-मरदन, निबळ साहि थापनाचारिज। सग्राम साहि जग हथरिण भाजणा साहि जइतखभ, सुरितांण दूसरो अलावदीन। किसे एकि आरभि-प्रारभि आइ टिबयौ छै। पगि पगि पउळि-पउळि हस्ती की गजघटा। ती ऊपरि सात-सात सै जोध धनकधर सांवठा। सात-सात ओळि पाइक की बैठी। सात-सात ओळि पाइक की उठी। खेडा उडण मुद फरफरी चुह चकि ठांइ-ठांइ ठठरी। इसी एक त्या पटउडि चत्र दिसि पडी। तिण वाजित के निनादि धर आकास चड़हडी। वाप वाप हो! थारा सत तेज अहंकार राइ द्रुग राखणहार। (६८-६६)

इस प्रकार कई दिनों तक भयकर युद्ध चलता रहा। रक्त की नदी बह गई। युद्ध-स्थल श्मशान हो गया। गिद्ध मँडराने लगे। राजपूतो के असाधारण योद्धा पालणसिह ने युद्ध मे ही मर कर प्राण देने की दृढ प्रतिज्ञा की। ऐसी गति वास्तव में दुर्लभ है। इसी तरह भयकर मारकाट कर घाव झेलते पालणसिंह भी खेत रहे। राव का हृदय भर आया। वर्णन की कारुणिकता एवं वीर-पूजा भावनाएँ निम्नांकित उद्धरणो मे उल्लेखनीय हैं—

१– इसी परि त्यां लड़तां लागतां, मरतां-मारता, महाअष्टमी भारत जुध

मातौ थौ। त्या दूसरी अष्टमी आइ संप्राप्ती हुई। जत्रतत्र गिद्ध मसाण करक की बाडि अरधो अरध दुर्वं दळ आवट्या। एकि घाइल ही भीना। राति दिवसि न मीना। रुधिर का प्रवाह नदी माहि मिल्या। आवरत अनिबंध हुवण लागौ। तितरै बोलतौ ही हुवौ छइ पाल्हणसी वाला को। राजा अचळेसर प्रति कहइ छै। इसउ कायउ क्रित ही रहिवौ। मरण तउ छइ एक बार नाएँ इसउ अब पाइवौ बार बार। (७४-७५)

२– तितरै बोलतो ही हुवौ। राजा अचळेसर कहै छै—भाइ हो! यातौ बात तम्हे कही छइ चालती चडवडी। अम्हारइ मनि न हुई छै एक ही घडी। या तो छइ भावनी आस, ज्यौं जांणो त्यौं मरौ आसपास। (७६)

३– पिणि कथीर न जीपइ। कनक है ए तो न जीपइ। हम हइ सिव सकति। ...ए वडी वडाई है कवण गति। जु अम्है मुवा की गैल मरां। माइ-बाप वीसरां। तीन पख ऊधरां। अब यौ अभिमान कउण सउ करां। सत तेज अहकार देखैं न हमहू सभरं। (८१)

युद्ध मे वीर गति पाने पर रानियां क्या अपना आत्म-समर्पण म्लेच्छों के हाथ करेंगी? क्षत्रिय बालाओ के लिए यह कल्पना भी अस्वाभाविक एव असभव थी। अत जौहर होगा और उनका मृत्यु से आलिंगन ही सही उत्तर होगा। अत चिंता किस बात की। रणथभोर के महाराज हम्मीर के घर पर भी तो क्षत्रिय बालाओ ने जौहर कर अपनी लाज और कुल की मर्यादा की रक्षा की थी। जौहर ही राजपूत रमणियो का शृगार है। वर्णन दृष्टव्य है—

मानवी कौ कहारे वावळि हौ। तेतीस कोडि देवता सहित सिरजणहार त्यो तुहारइ कौतिग देखणहार। हो तौ छउ चिंता वसत तम्हें काइ मानउ उपाणा मन माहि अहित इवें तम्इ यउ करउ ज्यौ जोगइ जोगाइत। कइ घरि जउहर हुवा। सीह उरि रोलू कइ धरि जउहर हुवा। कल्हि के दिहाडे रिणथभउरि राजा हमीर कइ घरि जौहर हुवा। तिण जउहरां जिका बात ऊणी हुई हुवै त्या म्है पूरी करि दिखाळउ। पूरी हुइ हुवै त्या पुनरपि वाहुडि उजाळउ हों तउ छाउ चिंता वसतु तिणि कारणइ छउ दु चितु। तम्हइ काइ मानउ आपण मन माहि अहित। (८२-८३)

राजा अचळदास की बताई जौहर करने की उक्त रीति को क्रियान्वित किया गया। इस भयकर युद्ध में राजपूत केसरी अचळदास भी वीर गति को प्राप्त हुए। रानियो ने जौहर के कुड मे कूद कर अपने आत्म-सम्मान की रक्षा

तरँ तेवाणू लाख माळवा रा कटक वंधे। ते कटकवंध रउ आरंभ पारंभ गर-वातन गडावर। तइ कटकवंध मांहि तउ कहि दिखाळइ। महाधर तउ कउण कउण—भीया उसमाखान, फतहखान, गजनीखान, उमरावखान हइवतिखान। खान तउ मुगीस सारिखा (१४-१५)

२. देस तउ कउण ? सतियासी नमियाड जुगा मांधात आसेरि दगउरि वीक्रि नीलहार इछरे तउ रायसेणि राणी गण पउली पट अलीव राणी तिलार सिलार पुर लगाइ का कटकवंध मझ देस तउ मांडव धार उजीण सीह उर वरौल हुसंगीवाद लगइ का कटकवध। इसी एक ते पातसाह का कटकवंध देम देस का, खड खंड का, नगर नगर का खान मीर उमरा चतुरंग दळ चढ़ि चाल्या। पातसाह आपणा पौ पलाण चाल्या॥ २२

३. अवर पातिसाह हुवा आला आगिलेरा अर भल-भलेरा। त्यां तउ चउरासी द्रुग लिया था दिहाड़े पाडइ। यो तउ सुरताण दूसरउ अलाउद्दीन जिणि चउरासी द्रुग लीया अेक ही दिहाड़इ॥ २४

## हिंदू राजाओं का वर्णन

१. हिंदू राजा कउण कउण ? सकळ ही सकवदी सकळ कळा-सपूरण राजा नरसंघदास सारिखा। ते नरसघदास रा कटकवध चालता सातरि आगिलइ दळि पांणी पाछिलइ दळि तइ कादम। ठहि खेह उडती जाइ। दूसरउ विक्रमाइत॥ १६

### अथ वात

२. राजा नरसंघदास सारिखा बत्तीस सहस साहण रिणि-खेति मेल्हि चाल्यउ। मदोनमत हस्ती मेल्हि चाल्यउ। आपण जाइ समद घाल्यउ। समदि जाइ खांडो उपखाळयउ। अनेक राइ मद-गळित करि मेल्ह्या। ते राजा नरसघदास का कुंवर तउ चांदजी केमजी साहरिखा। संप्राप्त हूवा, मुकाम मुकाम का ढोल वागा। तव जायण डूगर वे धवळ हर दीसि लागा॥ २९-३१

राजा अचळेस्वर से उस समय छत्तीस वंशो के राजा आकर मिले। उपहार देने लगे। राजा अचळदास प्रदेश की रक्षा के लिए सबसे भेंटे। पहली भेंट पातहणसी से हुई। दूसरी भीमा भोज से। फिर धैर्यवान, कल्याणसी, जवणसी, कउलसी, कामाहि, उरजन, सुरजन, मेर, महवन आदि सभी राजाओं से मिले। इस प्रकार छत्तीस कुल एकत्रित हुए। वर्णन की परिगणन शैली विभिन्न राज-वंशों के वर्णन के रूप में देखिए—

गोदाका माहि तौ राजा राजधर । सोलीक्या माहि तउ सत्रसल । हाडा मांहि तौ वीभ्रउ अथवण एकलमल । कछवाहा तउ रिणमलहरा डोड माहिउ नाथू नापउ । बागडी तउ डूंगर कान्हड सातल सिरहर । मुंधावत तउ हामा उधा जोधा सै इसा । एक ते केताहेकां का नाम लीजइ । छत्तीस वश छत्तीस राजकुळी । तो कवण कवण रिप सारंग गुरू नराइण । वाण्या माहि तउ हरपति, लालउ, वैजउ । भाट माहि तउ गागउ तिलोकसी । कउ चारण मांहि माधउ, सादौ, नापउ । बारहट तउ लाऊ, सेऊ । इसाएक ते केताहेका का नांव लीजै । कनिस्ट वंस सूध छत्तीस । इसा एक ते केता नांव लीजं । छत्तीस ही राजकुळी, एक एक हवै लौहडइ मिळी ।

पुरुषों में ही नही, ४० हजार बाल, अबाल, वृद्ध सभी स्त्रियो मे पुरुषार्थ के प्रति उत्साह छा गया । भोली और षोडसी सुन्दरिशं अपने पतियो के युद्ध-प्रेम को तथा उनके पुरुषार्थ को देख कर मुग्ध हो गई ।

१. तितरे तउ वात कहता बार लागइ । अस्त्री जन सहस चाळीस कउ सघाट आइ सप्राप्त हुवौ । बाळी भोळी अबळा प्रौढ़ा सौड़स वरस की । राणी, रवताणी । आपणा आपणा देवर जेठ भरतार का पुरिषारथ देखती फिरै ।. ६४

युद्धस्थल मे कवि का विरदावत उत्साह में चौगुनी वृद्धि कर देता था । वर्णन-शैली का प्रवाह एव अथ विरदावत के अतर्गत गद्य की काव्यात्मक सुषमा दृष्टव्य है—

२. मातापुरिका चक्रवरती लखमराव सारिखा । पउली का देवडा देवसीह सारिखा । बूदी का चक्रवरती सग्राम सारिखा । अवर देवडा हिंदू राय वदि छोड दूसरा मालदे समरसिंह सारिखा (२ -२२) ।

३— इसउ हिंदु राजा उपकठि कउण छै जिकै मनि पातिसाह की रिग वासी कउण का माथा तइ खिसी ? कउण है दइ-रूठौ ? कउण की माइ बिवाणी जउ साम्हउ रहइ अणी पाणी ? आज तउ सोम मातल कान्हड़दे नही, निलक चुपरितउ गहिलतु नही । सीहउरि रउलू नही । हठ तउ राव हमीर आयाम्यौ (२३)

अचळेश्वर के ऐश्वर्य का वर्णन करने मे कवि बिरकुल नही अघाता । दूर-दूर के प्रदेशों मे उसका यश प्रसारित है । उसकी तुलना मे कोई दूसरा राजा टिकना ही नहीं । अचळेस की भांति तो अचळेम ही है । ऐसे अचळेसर को धन्यवाद है जिसने माड्डू के बादशाह से भयकर लोहा लिया । वर्णन की मरलता उल्लेखनीय है । लेखक की अलकारिता चित्रण को और अधिक सशक्त बना देती है—

घनि धनि हो राजा अचळेसर थारो जीयो। जिणि पातसाह सउं खांडउ लियो। तेणि पातसाह आया सांतरो सत छाडे नहीं। खत्र खाडइ नहीं। हीण न भाखइ। पागार लघित न होइ। तर ते राजा अचळेसर सारिखा अचळ नें अचळेस ही होई। अचळेसर तउ किसउ ? उत्तर दक्खिण पूरब पच्छिम कउ भड़ किवाड़। आइन्या अजइपाळ। अहंकारि रावण। दूसरउ धारू। तीसरउ सिंघण। छइ दरसण छैयाणव पाखंड कउ आधार। बाळत चकरवति। (२७-२८)

बादशाह का दल अचळेश्वर की सेना पर टूट पडा। प्रलय मच गया। दिशाएँ डोलने लगी। अम्बर मे इतनी गर्द छा गई कि सूर्य के दर्शन भी दुर्लभ हो गए। न हाथियों का पार, न घोड़ों का। एक उदाहरण देखिए—

इसा एक ते पातसाह रा कटकबंध अचळेसर ऊपरि छूटा। वाट का खड ईंधण खूटा। दह का पाणी तूटा। परवता सिरि पथ लागा। दुघट भागा। सूर सूझै नही खेह आगा।

हैवर गैंइवर पाइदळ, पुहवि न पारावार।
गोरी रावगिर आसनउ, गउ गढ़ गंजणहार॥

इमा तैं पातसाह का कटकबध होइ चुट कोस माहि।

(अथ बिरिदावत)

बाहरि साहि झाड़, साहि बिभाड़, वळिया साहि कंधि कुदाळ, सबळ साहि मान-मरदन, निबळ साहि थापनाचारिज। संग्राम साहि जग हयरिण भाजणा माहि जइतखंभ, सुरितांण दूमरो अलावदीन। किसे एकि आरभि-प्रारभि आइ टिवयो दं। पगि पगि पउळि-पउळि हस्ती की गजघटा। तीं ऊपरि सात-सात मैं जोध धनकधर सावठा। सात-सात ओळि पाइक की बैठी। सात-सात ओळि पाइक की उठी। गेडा उडण मुद फरफरी चुह चकि ठांइ-ठांइ ठहरी। इनी एक त्या पटउडि चत्र दिमि पडी। तिण वाजित के निनादि घर आकाम चडहडी। वाप वाप हो! थारा सत तेज अहंकार राइ द्रुग रायणहार। (६८-६६)

इस प्रकार कई दिनों तक भयकर युद्ध चलता रहा। रक्त की नदी बह गई। युद्ध-स्थल श्मशान हो गया। गिद्ध मँडराने लगे। राजपूतो के असाधारण योद्धा पालणसिंह ने युद्ध मे ही मर कर प्राण देने की दृढ प्रतिज्ञा की। ऐसी गति वास्तव मे दुर्लभ है। इसी तरह भयंकर मारकाट कर घाव झेलते पालणसिंह भी खेत रहे। राव का हृदय भर आया। वर्णन की मार्मिकता एवं वीर-पूजा भावनाएँ निम्नांकित उद्धरणो मे उल्लेखनीय हैं—

१— इसी परि त्यां सहतां लागतां, मरतां-मारतां, महाअष्टमी भारत जुध

मातौ थौ। त्या दूसरी अष्टमी आइ संप्राप्ती हुई। जत्रतत्र गिद्ध मसाण करक की वाडि अरधो अरध दुर्वे दळ आवट्या। एकि धाइल हो भीना। राति दिवसि न मीना। रुधिर का प्रवाह नदी मांहि मिल्या। आवरत अनिवध हुवण लागौ। नितरै बोलतौ ही हुवौ छइ पाल्हणसी वाला कौ। राजा अचळेसर प्रति कहइ छे। इसउ कायउ क्रित ही रहिवौ। मरण तउ छइ एक वार नाऐं इसउ अब पाइवौ बार बार। (७४-७५)

२– तितरै बोलतो ही हुवौ। राजा अचळेसर कहै छै—भाइ हो ! यातौ बात तम्है कही छइ चालती चड़वडी। अम्हारइ मनि न हुई छै एक ही घडी। या तो छइ भावनो आस, ज्यौं जाणां त्यौं मरो आसपास। (७६)

३– पिणि कथीर न जीपइ। कनक है ए तो न जीपइ। हम हइ सिव सकति। ···ए बडी बडाई है कवण गति। जु अम्है मुवा की गैल मरां। माइ-बाप बीसरा। तीन पख ऊधरा। अब यौ अभिमान कउण सउ करा। सत तेज अहकार देखै न हमहू सभरे। (८१)

युद्ध में वीर गति पाने पर रानियां क्या अपना आत्म-समर्पण म्लेच्छो के हाथ करेगी ? क्षत्रिय बालाओ के लिए यह कल्पना भी अस्वाभाविक एव असभव थी। अत जौहर होगा और उनका मृत्यु से आलिगन ही सही उत्तर होगा। अत चिता किस बात की। रणथभोर के महाराज हम्मीर के घर पर भी तो क्षत्रिय बालाओ ने जौहर कर अपनी लाज और कुल की मर्यादा की रक्षा की थी। जौहर ही राजपूत रमणियो का श्रृंगार है। वर्णन दृष्टव्य है—

मानवी कौ कहारे बावळि हो। तेंतीस कोडि देवता सहित सिरजणहार त्यों तुहारइ कौतिग देखणहार। हो तो छउ चिंता वसत तम्हे कांइ मानउ उपाणा मन माहि अहित इवं तम्इ यउ करउ ज्यौ जोगइ जोगाइत। कइ घरि जउहर हुवा। सीह उरि रोलू कइ घरि जउहर हुवा। कल्हि के दिहाडे रिणथभउरि राजा हमीर कइ घरि जौहर हुवा। तिण जउहरा जिका वात ऊणी हुई हुवै त्या म्है पूरी करि दिखाळउ। पूरी हुइ हुवै त्या पुनरपि बाहुड़ि उजाळउ हो तउ छाउ चिंता वसतु तिणि कारणइ छउ दु चितु। तम्हइ कांइ मानउ आपण मन माहि अहित। (८२-८३)

राजा अचळदास को बताई जौहर करने की उक्त रीति को क्रियान्वित किया गया। इस भयंकर युद्ध में राजपूत केसरी अचळदास भी वीर गति को प्राप्त हुए। रानियो ने जौहर के कुड मे कूद कर अपने आत्म-सम्मान की रक्षा

हल्ल कविकृत—

# सिद्धराज जयसिंह और रुद्रमहालय कवित्त

**श्री भँवरलाल नाहटा**

प्राचीन राजस्थानी और गुजराती एक ही भाषा थी, और उस भाषा के अनेक फुटकर पद जैन प्रबन्धादि ग्रथों में उद्धृत मिलते हैं। उनका समय ११ वी से १५ वी शताब्दी तक का है। १६ वी शताब्दी से राजस्थान और गुजरात की भाषा मे अन्तर अधिक स्पष्ट होने लगता है। इसलिये १५ वी शताब्दी तक के जितने भी दोहे, कवित्त आदि फुटकर पद, प्रबन्ध चिन्तामणि, प्रबन्ध कोश, प्रभावक चरित्र, कुमारपाल प्रबन्ध, उपदेश तरंगिणी, पचशती कथा कोश आदि मे बिखरे हुए पड़े हैं, उन सब को सग्रहीत किया जाना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि जैन कवियों के तो प्राचीन राजस्थानी के अनेक ग्रथ प्राप्त हैं पर जैनेतर स्वतन्त्र रचनाएँ १५ वी शताब्दी के पहले की तो प्रायः अनुपलब्ध हैं। १५ वी शताब्दी की भी बहुत थोडी-सी रचनाएँ ही मिलती है। इसलिए इन फुटकर पद्यो, जो कि अधिकाश चारण, भाटो आदि द्वारा रचित हैं, का विशेष महत्व है।

पाटण के महाराजा सिद्धराज जयसिंह ने रुद्रमहालय नामक बड़ा प्रासाद सिद्धपुर में बनाया था। उसका वर्णन कई फुटकर पद्यों में मिलता है। सवत् १५२५ में रचित उपदेशतरंगिणी मे जो दो कवित्त मिले हैं उनमें से एक मे कवि का नाम 'गद्द' और दूसरे में 'आम' पाया जाता है। पर ये ही पद्य अन्य प्रतियों में कवि 'लल्ल' या 'हल्ल' के नाम से पाये जाते हैं। इन दो पद्यों के अतिरिक्त अन्य ६-७ पद्य भी कवि 'लल्ल' या 'हल्ल' के नाम से इसी प्रसंग के मिलते हैं। जयसिंहदेव और रुद्रमहालय सम्बन्धी ऐसे कुल नौ पद्य मुनि जिनविजयजी को किसी प्रति में प्राप्त हुए थे जो उन्होंने 'भारतीय विद्या', वर्ष ३,

ग्रक १ में लल्ल भट्ट कृत 'सिद्धराय जैसिंघदे कवित्त' के नाम से प्रकाशित किये थे। इनमे एक दोहा और आठ कवित्त है। मुनि जिनविजयजी ने इनके सम्बन्ध मे लिखा था 'आ नीचे आपेला प्राचीन भाषा कवित्त तीन सौ, चार सौ वर्ष जूना लखेला एक गुटका में मलिआव्या छे...प्रबन्धचिन्तामणि अने 'पुरातन प्रबंध' सग्रहे जेवा ग्रंथों मां सिद्धराज नां केटलाँक प्रसिद्ध राजकवियो अने सभापंडितोनां नामो तथा सस्कृत प्राकृत अने अपभ्रंश मां तेमने रचेला सिद्धराज ना प्रशसात्मक स्तुति पद्यों प्रसगोपात मलि आव्या छे। सिद्धराज विषदेनों आवुं स्तुतिमय साहित्य गणु विशाल होवु जाइजे परन्तु ते समग्र उपलब्ध नथी। अहिं मुद्रित करवामा आवता नौ पद्यो एवाज साहित्य भडार ना खोवायला ने वेला-यला मणका जेवा छे। एणा कर्त्ता तरीके लल्ल भट्ट नु नाम आप्यो छे।'

इन पद्यो के सम्बन्ध म उन्होने लिखा है कि 'सिद्धपुर मां सरस्वती ना तीरे सिद्धराजे बधावेला रुद्रमहालय नों वर्णन छे जे ऐतिहासिक दृष्टिए खास उपयोगी छे। एमा रुद्रमहालय मां स्तम्भ वगैरह केटला हता तेनी सख्या बतावेली छे। ए सख्या प्रमाणे ए महालयमां १४४४ स्तर हता। १७०० स्तभ हता, १८०० पुत्तलियो हती, जे हीरा माणिक-सीजड़ियली हती। ३०००० नाना मोटा ध्वजदड हता। १७००० हाथी अने घोड़ा एला आकार कोतरेला हता। आ ऊपर थी ए रुद्रमहालय केवो भव्य अने केटलो विशाल दृशे तेनी काई कल्पना करी एकाय तेम छे। आखाय पच्छिम भारत मा अत्यारे जेटला जैन, शैव, वैष्णवादि जूना मदिरो विद्यमान छे तेमा विशालतानी दृष्टिए सौथी मोटौ मदिर मारवाड राज्य म आवेला राणकपुर गाम नो धर्णविहार नाम नो चतुर्मुख जैन मदिर छे। ए मन्दिर मा कहवाय छे तेम कुल १४४४ स्तंभो आवेला छे। ज्यारे रुद्रमहालयमा १७०० स्तंभ हता ए ऊपरती तेणि विशालतां नी तुलना करी एकायतेवी छे।'

अभी मुझे श्री पूर्णचदजी नाहर, कलकत्ता के संग्रह के संवत् १६६६ के लिखे हुए गुटके मे उपरोक्त नव पद्य लिखे मिले हैं। उसमे कवि का नाम 'लल्ल' की जगह 'हल्ल' मिलता है। इसमे एक दोहा और नौ कवित्त हैं अर्थात् पद्याश चार वाला पद इस प्रति में नया मिला है। अत. मुनिजी के प्रकाशित पद्यों के पाठ भेदसहित यहाँ दसो पद्यो को प्रकाशित किया जा रहा है। मुहता नैणसी री ख्यात में 'रुद्रमालो प्रासाद सिद्धराव करायो' तिणरी वात नामक एक रोचक वात मिलती है। उसके अन्त में लल्ल भट्ट के नाम से उपरोक्त पद्यों में से ५ पद्य प्राप्त होते हैं। इस वात मे खापरा चोर ने किस प्रकार देवनिर्मित प्रासाद

को आबू के पास पृथ्वी में से प्रगट हुआ देखा और सिद्धराज जयसिंह को पाटण से अपने साथ ला कर दिखाया और उसी के अनुरूप सिद्धराज ने रुद्र-महालय का निर्माण किया। इसके निर्माता दुर्लभ शिल्पी और उसकी पुत्र-वधू की बुद्धिमानी आदि का भी रोचक प्रसंग इस बात मे मिलता है। सं० १७१५ में जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह को गुजरात का सूबा मिला। सं० १७१७ के भादवे में मुंणोत नैणसी को उन्होंने वहां बुलाया। भादवा वदि ७ को नैणसी ने सिद्धपुर में डेरा किया और उसी समय के आसपास यह बात सुनेसुनाय प्रवादो के आधार से लिखी गई। रुद्रमहालय के सम्बन्ध मे अन्त में उसमे लिखा है 'रुद्रमालो बड़ा प्रासाद करायो हुतो सु पादशाह अल्लाउद्दी पाडियो। तोही कितरो एक प्रासाद अजेस छे। गाव आगे उगवण नु फळसे। सरस्वती नदी छे तिण ऊपर प्राची माधव रो दुहुरो करायो होतो। घाट बंधायो होतो। सु देवरो तो मुगले पाडियो अने घाट बंधायो हुतो सु अजेस छे। तठे सको सनान करे छे। घाट ऊपरे बगलो एक किणही तुरक करायो छे।' इस विवरण से मुणोत नैणसी के समय की स्थिति का पता चलता है।

प्रबन्ध-चिन्तामणि में प्रस्तुत रुद्रमहालय के सम्बन्ध में लिखा है 'एक बार श्री सिद्धराज ने सिद्धपुर में रुद्रमहालय का प्रासाद बनवाना चाहा। किसी (प्रसिद्ध) स्थपति (कारीगर) को अपने पास रख कर प्रासाद के प्रारंभ होने के समय उसकी कैलासिका को जो उसने किसी साहूकार के यहा एक लाख मे वधक रखी थी, छुड़ा कर उसको दिलवाई। वह बास की कमाचियो की बनी हुई थी। उसे देख कर राजा ने पूछा कि क्या बात है ? इस पर उस स्थपति ने कहा कि मैंने महाराज की उदारता की परीक्षा के लिए ऐसा किया है। फिर उस द्रव्य को राजा की अनिच्छा रहते हुए भी लौटा दिया। फिर क्रमानुसार २३ हाथ ऊंचा सर्वांगपूर्ण प्रासाद बनवाया। उस प्रासाद मे अश्वपति, गजपति, नरपति प्रभृति बड़े-बड़े राजाओं की मूर्तियां बनवा कर रखी और उनके सामने हाथ जोड़े हुए अपनी मूर्ति भी बनवाई।' 'प्रभावक-चरित्र' के अनुसार रुद्र-महालय की प्रशस्ति कविराज श्रीपाल ने बनाई थी।

दूहो— अमरक[1] धरणी परठवइ, अमरक एसा हुन[2]
अमरक नर जेसिह[3] तूम[4], भजे मो मन भ त[5]।—१

---

[1]अमरकि [2]हुंति [3]जेसिंग [4]तूं [5]यो मनि मजइ भनि।

कवित्त— थर चवदह सइ चाल[१] खभ सय[२] सतर निरंतर
सइ भढार पूतली[३] जडी हीरे माणिक[४] भर[५]
त्रीस सहस घज डंड[६] सहस दस कलस निहाले[७]
सवा कोडी[८] गय तुरीय हल्ल[९] गुण[१०] रूदमुहाले[११]
एतला पिक्ख सिद्धायमे[१२] रोमंची[१३] सुरनर चवे[१४]
सुप्रसिद्ध कित्त जेसिंह तुय[१५] टगमग चाहत चक्कवे[१६] ।—१

दिसि गयद गडयडे[१७] सिंह खिण[१८] खिण गुंजारे[१९]
कनक-कलश[२०] झलहले डंड ओडंड विहारे[२१]
पग ठवंत पूतली[२२] एक[२३] गावइ एक वावइ
इण पर सद्द उन्छलिग[२४] सख सवदइ आलावइ[२५]
नाचतिक सुरनर सयल जण[२६] घम घमंत सद[२७] उच्छलिग
तिण कारण सिद्ध नरिंद तो[२८] वृषभ[२९] इल्ल थको[३०] डरिग ।—२

जु ते देव चालिक्क नरिंद भड़ भड्डल बहीया[३१]
तसह[३२] ईस सग्रहे[३३] गुथ गुण माले ग्रहीया[३४]
पेख माल सिर धूणि अमिय ससिहर बोछड़िया
सु जडक रथ ग्रहि[३५] वभ सिंह केहरि गड़वडिया
एतली पत्त सिद्धाय तू सुकवि[३६] 'हल्ल[३७]' सच्चउ चवइ
हडहडघउ[३८] हस्यउ केलास सद्दु हहह करत सकर भवइ[३९]।—३

गुज्जर वे देहरउ वसइ तहा गवरि पियारउ
अच्चभ पूतली देखि भूलउ वणिजारउ
नह बोले नह हमे कापरिस भेद न पायउ
बोलि बोलि जिभ बोलि जीव गम्मार गमायउ
एतली कित्त जेसिंह तुय सुकवि 'हल्ल' कीरति करइ
दुरबला हुवे एसा पुरप मूरख सिर धूणवि मरइ।—४

---

[१]सय चवद चियाल [२]सइ [३]पूतली [४]हिरइ माणिक्क [५]वर [६]दंड [७]कलस सोवन्न विहारइ [८]सतर सहस [९]लल्ल [१०]गिणि [११]निहाले [१२]इताइ पिव्यूव सिद्धा हिवइ [१३]रोमच्चिय [१४]थवइ [१५]किति जेसिंघ तुम [१६]चाहइ चक्कवइ [१७]गडमडइ [१८]पेखिणि [१९]गुंजारइ [२०]कनककलस [२१]उड्डइ विहारद [२२]नच्चेइ रंगि तिह [२३]हेक गाए हेक वाए [२४]परिसर उच्छलिल [२५]आलाए [२६]पेक्खता सुरनर सयल परि [२७]सर [२८]गुणि [२९]वृष [३०]थक्कउ [३१]भडणि बहिया [३२]तिमवि [३३]संगहवि [३४]गुथि गलि मालइ गहिया [३५]सुजड़ वउअइ [३६]विहुरिए वृषभ जेसिंघ गुणि [३७]रयण [३८]हडहड़ करंति [३९]भमइ ।

राव ग्रहे उग्रहे[1] राव थप्पे ऊथप्पइ[2]
राव मले मरहट्ट[3] राव असमर कर अप्पइ[4]
डवके भवकतावक मेव सासन[5] उद्दालइ
राव चडइ पजरइ[6] राव ग्रहि धातइ गालइ[7]
चालवइ चक्र चिहुं दिसि तरणा एक अग भूम बल अवरे[8]
मइणल्लदेवि कारणइ धरइ[9] काल गव किम उर धरे[10]।—५

चलत[11] इद् चल चलइ[12] चंद्र खलभलइ[13] दिवायर
डिगत मेर डिगमिगइ[14] मेह[15] झर झखति सायर
सलक सेस सलसलइ कुंभ कोरंभ कलट्टइ[16]
अनल वनल कममसइ होइ महि मलइ मलट्टइ[17]
धडहडत द्रुग द्रिगपाल सहि[18] सुर नर फणि मणि इक्क हुअ
मम गहिसु[19] म गहि मम ग्रहि म गहि ग्रहि मुत्थ[20] जेसिंह तुअ।—६

*सरगि इद्र सलहियइ दमिरण पाताले[21] वासिग*
मात लोग तु राउ[22] अवर कुण ओपम कामिग
हेम सीत[23] मझार अत्थ जपीये सुरा हिव[24]
अथन्न चउथउ राउ[25] सच्च जपीये सुसाहिब[26]
त्रिण्ह राव त्रिभुवन धणी[27] जेसिंह सच्च समुच्चरां
अन चवत्थउ कोइ हवइ[28] तो दिव्व[29] जलतो करधरा[30]।—७

*ऊंदर[31] बिलखरिग मरइ भूमि भोगवइ भुयगम*
हल खडि मरइ बइल्ल हग्चा[32] जव चरइ तुरगम
सूम धन्न संचो[33] मरइ वीर विद्रुवइ विवहधर
पडित गुण पढि[34] मरइ राउ विलसइ मूढा घर[35]

[1]राउ ग्रहइ उग्रही [2]उत्थपि इक थप्पइ [3]राया मलइ मरट्ट [4]उप्पइ [5]डक्क ढक्क अवक्क, मेघ डबर [6]जडइ पिंजरइ [7]ऊगालि करि चालेइ [8]भू वलि वरी [9]वर्णहि छरिणि [10]सिद्ध राउ किउ उरधरिय [11]डरति [12]डगमगति [13]कलमलति [14]चलति पृथ्वी डोलति [15]मेह [16]सेहासीस सलवलति, दढति दढ कुभ कडकृति [17]विनल थिय अवक, पृथ्वी पर पलय ढलवकति [18]खडहडति दुग्गा मूरउ सुपि [19]गहमि [20]मुच्छ [21]राउ पायालहि [22]मृत्यु लोकि तूं राय [23]सेत [24]नकोहिव अत्थि करत हिव [25]अत्थि न चउत्थउ कोइ [26]जपु सिद्धाहिव [27]तले [28]जय अत्थि चउत्थउ राव कहि [29]उब्ब [30]धरू [31]मूसा [32]हरिय [33]संचि करि [34]पढि गुणि [35]मूढ बोलइ रायां घरि।

सुज्जाण राव[1] गुज्जर घणी सुणो वीनति करण सुभ[2]
हम पगुणा[3] पावे ग्रवर कहा[4] परिक्ख जयसिंह तुम्र।—८

वीस ग्रीस चालीस साठि सत्तरि सतहत्तरि
भट्टा दीन्हां ग्राण[5] करह[6] केकाण विवह पर[7]
ग्राठ ढाल दस ढोल वीस नेजा इक डंडह[8]
छत्र ताण[9] गय गुडे[10] सुजस जेसिंह नरिंदह
मारीयउ दलिद्र दस लाख दे[11], हीये हरख बहुलो थियउ[12]
निकसीयो भाट हडहड हसग्रउ[13] सिद्धराव एतल[14] दीयउ।—९

---

[1]सुणि सिद्धराय [2]करां वीनन्ती [3]पठ्ठं गुणु[4] का [5]भाटइ माणी सुंपि [6]दिद्ध [7]सबल वरि [8]दंडह [9]ढनवि [10] गुडवि दिद्ध [11]देई [12]जिउ पाय पडुरा कीयउ [13]हडहडवि महद्द तारइ [14]इत्तउ।

नोट—नैणसी री ख्यात मे उपरोक्त पदो में मे न० १ २ ७ ८ ९ है।

# सिद्ध भक्त कवि अलूनाथ कविया

श्री सौभाग्य सिंह शेखावत

राजस्थानी साहित्य एवं इतिहास के लिए चारण जाति की अविस्मरणीय देन रही है। इस जाति ने अपनी प्रतिभा, चातुर्य्य, दूरन्देशी और काव्य-शक्ति से अनेक वार राजस्थानी इतिहास को नया मोड दिया है। चारण जाति के इतिहासकारो के मत से चारणों की एक सौ बीस शाखायें हैं, जिन्हें 'वीसोत्रा' कहते हैं। इन एक सौ बीस शाखाओ में एक प्रसिद्ध शाखा कविया चारणो की है। यह शाखा अपने पूर्व-पुरुष कविया के नाम से कविया कहलाने लगी। कविया चारणों में उच्चकोटि के कवि, विचारक, भक्त और योद्धा उत्पन्न हुए हैं। कविया चारणों का राजस्थान मे आदि निवास-स्थान बिराई ग्राम था और मालनदे इनकी आराध्य देवी थी। मालनदेवी के आशीर्वाद एव आदेश से इस शाखा के पूर्वज बिराई से सिणला ग्राम मे आये। दो पीढियों तक सिणला मे रहने के बाद हेमराज कविया के घर प्रसिद्ध भक्त कवि अलूनाथ उत्पन्न हुए। अलूनाथ का जन्म १५६० वि० के आसपास हुआ। ये डिंगल भाषा के ईश्वर-भक्त श्रेष्ठ कवि थे। यद्यपि इनका कोई प्रवन्ध-काव्य अभी तक नही मिला है, पर प्राप्त गीत और षट्पदियों से इनकी सहज प्रवृत्ति, ईश्वर-भक्ति और काव्य-प्रतिभा का बोध होता है। निम्न पंक्तियों मे श्रेष्ठ भक्त कवि अलूनाथ और उनके जीवन वृत्त पर संक्षिप्त प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है।

अलूनाथजी की भक्ति और काव्य से प्रभावित होकर आमेर नरेश महाराजा पृथ्वीराज कछवाहा के पुत्र वैरागर ( रूपसिंह वैरागर ) कछवाहा ने इन्हें जसराणा ग्राम प्रदान किया। तब फिर अलूनाथ सिणला से जसराणा मे रहने लगे। चारण जाति मे इनकी सिद्ध भक्तों में गणना की जाती है और इनकी सिद्धि की अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। कहते हैं कि बलख के सुल्तान को

किसी घटना विशेष से वैराग्य उत्पन्न हो गया और वे राज्य त्याग कर हिन्दुस्तान में आ गये। यहां अलूनाथ से इनकी भेंट हुई और दोनों ही एक दूसरे की भक्ति एवं ज्ञान से आकर्षित हुए। बलख के सुल्तान के गुरु ने उनके गले में मिट्टी की कच्ची हंडिया (मटकी) डाल कर कहा था कि जिस दिन आत्म-ज्ञान के आतप से यह हंडिया स्वयमेव ही पक जायेगी, उस दिन तुम पूर्ण योगी हो जाओगे। इस हंडिया को गले में धारण किये रहने के कारण उनका नाम 'हांडी भडंग' प्रसिद्ध हुआ। शेखावाटी के प्रसिद्ध स्थान जीणमाता के पहाड़ों में हांडी भडंगजी की गुफा है। 'हांडी भडंगजी' पर अलूनाथजी का एक गीत और एक निसाणी 'सुल्तानी बलख बुखारन्दा' मेरे सुनने में आये हैं।

भक्त कवि नाभादास ने अन्य चारण भक्तों के साथ कोल्ह (अलूनाथ के पूर्वज) और अलूनाथ का अपनी भक्तमाल में वर्णन किया है, जिसमें इन कवियों को चौरासी रूपकों की रचनाओं में निपुण बतलाया है। मूल षट्पदी द्रष्टव्य है—

चौमुख चौरा चंड जगत ईस्वर गुन जानें।
करमानद और कोल्ह अलू अक्षर परवाने॥
माधो मथुरा मध्य साधु जीवानद सींवा।
उदा नरायनदास नाम माडन तन ग्रीवा॥
चौरासी रूपक चतुर बरनत बानी जूजुवा।
चरन सरन चारन भगत हरि गायक एता हुवा॥
(मेरे संग्रह की हस्तलिखित भक्तमाल से)

बीकानेर के कविराज भैरवदान ने अपने 'राजवंश प्रकाश' में लिखा है—

अलू कविया हुव जोग निधान।
लख्यो सट् चक्रन को जिन ज्ञान॥
किये निज जोग के आठहुँ अंग।
कियो हरि ते हिय हेत अभंग॥

मेवाड़ के आसिया चारण बखतराम ने अपने रचित पद्धरी छन्द में चारण भक्त कवियों के प्रसंग में लिखा है—

ईसरो भक्ति अभंग अनंद।
करमानद कोल्हण अलू कहंद।
निज माधो मथुरा जीवनंद॥

इसी प्रकार किसी अन्य कवि ने कहा है—

ईसर अलू करमानंद अनंद, सुरदास पुनि संत।
जीवन सींवा केसव माधव, नरहरदास अनंत॥

दानिया नाम के राजस्थानी कवि ने हरि नाम महिमा की महानता प्रदर्शित करते हुए निम्न षट्पदी में अलूनाथ का उल्लेख किया है—

हरि सुमरण रे हेत वीण तुंबरु बजाई।
हरि सुमरण रे हेत, कन्ह कहे कवित कताई॥
हरि सुमरण रे हेत, गीत करमाणद गाया।
हरि सुमरण रे हेत, सहस कवि जोति समाया॥
हरि भगतो रे हेत ईसर अलु, विमन चरण जाइ वानिया।
जिण खाळ माहि पायो जनम, पढि रे हरि प्रभु दानियां॥

यह तो राजस्थान के कतिपय विद्वान कवियो की अपनी दृष्टि में भक्त अलूनाथ का सक्षिप्त भक्त चरित्र चित्रण रहा, अब आगे उनके काव्य पर प्राप्य एक प्राचीन कवियों का अभिमत प्रस्तुत किया जा रहा है—

कवितं अलू दूहे करमाणद, पात ईसर विधाचो पूर।
मेहो छदे झूलणें मालो, सूर पदे गीनें हरसूर॥

इस दोहे में सात कवियो के छंदो की प्रशसा की गई है। अलूनाथ के कवित्त (षट्पदिया) राजस्थानी कवि समाज मे अजोड गिनाये गये हैं। यद्यपि इनकी अद्यावधि प्राप्त कविताएँ मुक्तक ही हैं, पर उनमें ईश्वर नाम महिमा की महानता प्रतिपादित की गई है। ये अपने ज्ञान और अनुभूति से दीर्घकालीन राम नाम रूपी सोमरस से सराबोर हैं। भक्तिकालीन परम्परा के भारतीय कवियो मे अलूनाथ का महत्वपूर्ण स्थान है। इनकी रचनाओं मे नये-नये प्रतीको और पौराणिक कथाओ का प्रभावोत्पादक वर्णन पाया जाता है। भाषा में ओज और प्रसाद है तथा वर्णन मे सहज आकर्षण है। प्रत्येक षट्पदी का स्वतत्र अस्तित्व है और ये शान्त रस से आप्लावित हैं। नीचे इनकी कुछ षट्पदियां उद्धृत की जा रही हैं—

रामावतार सम्बन्धी:—

अचक पाल पर दळ विभाड फौज अणकळ
निर्भे नाथ निगरव संसार समकळ
वडिन सत्ती वस एकोतर तारण
पर नीया परमुख सेन राकस महारण
मंदधि लक जग उचरें राज करने रामणह
ते कीयो एम राघव तवें लखमण केन वभोखणह।—१
धुरा लंक धड़हडे समद बधो सर पजर
भनळ झाळ उद्धळे धिखे धूवा धोळागिर

कूभकरन करद मये महामरण मंगळ
टणू हाक हैकपण उलट गढ़ कीयो उदगळ
ग्रोदरे मदोवरि साम भे सपनंतर ग्राया सहम
कोपीया राम रामण सरिस दळे सीस गमिस्यै दहम ।—२
किति किरन बियुरिय डरीय ग्ररि तिमर निमाचर
कुमुद मुदित मन मलिन मुख नलिन ग्रानंदघर
ग्ररि चकोर संतपत जपत जस चक्रवाक सुर
नछत्र विपय छय गय ग्रलोक ग्रयलोक त्रिविधजुर
रावन उलूक मुख मूक हुव ग्रंध नयन ग्रासान घट
श्री रामचद्र दिनकर दरस कौसल्या प्राची प्रगट ।—३

कृष्णावतार सम्बन्धी:—

काराग्रहि जामेवि कणय मणि भूपण धारण
ग्रर्द्ध निसा ग्रस्टमी क्रस्ण भुग्र भार उतारण
क्रस्ण करिहि समिले मात जसुदा तिणि रख्खय
वे कंस निरवस हिये पित मात हरख्खय
कप्पूर हलिद्रा कुम-कुमा मिलय सग गोकुल मही
निसि दिवस द्वार नदराइ रै दधि कादव जमना वही ।—४
देवराज घरि दसान या भूतेस भडारहि
*नाग नेस पणि मही न या धनराज दुवारहि*
घुंटुरुवा घूमतै ग्रंह कर नेत्रह बाळै
दधि गिरिवर डोलीयो पनग घूजीयो पयाळै
ग्रदभूत चरित्र व्रज ग्रंतरै पूरण द्रोए चीर को
ग्राणद भलो समयो ग्रलू देख्यो नद ग्रहीर को ।—५
पच एक पंचास कोटि पावस निहस्सय
ग्रैरावत चढि इद्र गयो पचिहारि वरस्मय
फळ तबोळ दधि ग्रखित हरखि जसुवै ले ग्राई
... ... . . ...पसुपाळ, हुवे ग्राणंद बधाई
सुर धेन सहित सुरतर कुसम सुरपति विनौ समच्चरै
धिक ग्रह धन्य गिरवर घरण किये ग्रवगुण गुणक रै ।—६
ब्रह्म वेय उच्चरंय गीत तुंबरु गावै
रभा ग्रवमर रमै वीण सरसत्ती बजावै
सिव ग्रवलोकण करै इद्र सिर चम्मर ढाळै
व्यास उकति बरनवै पाउ गगा पख्खाळै
ससि सोळह कळा ग्रम्रित स्रवै सूरिज कोट समधरै
ग्रपरम तणा सिर ऊपरै कमळा ग्रारती करै ।—७

गोप-नार चित हरण प्रेम लच्छण समप्पण
कुंज विहारी व्रसण रास व्रंदावन रच्चण
गोवरधन ऊधरण ग्राह मारण गज तारण
जुरासिंघ सिसपाळ भिडे भू-भार उतारण
जमलोक दरस्सण परहरण भो भग्गो जीवण मरण
श्री मंत्र भनो निस दिन अलू सिमर नाथ असरणसरण।—८
महाराज गजराज ग्राह उग्रह्यो सनेही
करि ग्राण्यौ वयकुंठि दिव्व नारायण देही
दघि भारथ कौरवां ग्रतर वेला उत्तारे
रौद्र दुजोवण सभा लाज द्रोपदी वधारे
सुदरसण ससंख गद्दा पदम ग्रंबर पीत चिधारी भुग्र
गोविंद वेग वाहर गरड हरि जगनाथ पुकार हुव।—६
चरण कमळ मधवपुरी रमाकर कज विराजै
संकर सेप विरंचि राग सारद नि साजै
वेत्रपाणि जय विजय भव्व कंहे समभावं
पीतंवर घनस्याम महल भगतज्जण पावं
मिळि हरख कोटि ग्रंत्रीस मैं हेम डंड चामर सुकरि
ग्राणंद भेद कौतुक ग्रलू ह्वै ग्रनत दरबार हरि।—१०

नीचे की पक्तियो मे कुछ ऐसी पट्पदियां दी जा रही हैं, जिनमे नाम, महिमा, वृद्धता, शील-सन्तोष ग्रौर ग्राराध्य के प्रति ग्रनन्य निष्ठा, विश्वास ग्रादि की महत्ता का वर्णन है।

मोर मेर पर चुगै चुगै पंछी फळ तरव्वर
गज कजळी वन चुगै चुगै डिग हंस सरव्वर
ग्रनड चुगै ग्राकास चुगै पाताळ भुयंगम
वेहर वन मैं चुगै चुगै नित ठाण तुरंगम
जीव ग्रो जंतु सव्वही चुगै गाठे वहा गरत्थ है
चिंता म कर नाचित्त रहै देणहार समरत्थ है।—११
दईत राज कुण दळै पखे नरसिंघ नरेसर
काळकूट जीरवै नको पाखं भूतेसर
ग्रोम प्याग नह हटै, वहे ग्रीषम हजारा
इरिया जानो वहै घरा नम रै जळघारा
समारि ग्राप सारथियां नारायण विण ग्रनि नरां
ग्रावै न दूघ मीर्फ ग्ररघ ग्रलू कंठ पयोघरा।—१२
दांतां उत्तर दियो सांवं नहि करडो खाणो
ग्रवणां उत्तर दियो वयण नहि सुणे वडाणो

जीवित रहने का स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होता है। कवि की शान्त रस की रचनाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इन्होने अच्छी आयु प्राप्त की थी।

अलूजी का समाधि-स्मारक कुचामन के समीपस्थ जसराणा ग्राम मे है। वहा उनकी पावड़ियों की पूजा की जाती है और वहां के निवासी उस स्थान को अलूजी बापजी की समाधि कहते हैं। संभव है उनकी समाधि पर कोई मृत्यु-लेख भी अंकित हो। कुचामन के पहाड़ी दुर्ग में उनका लोहे का चिमटा और धूनी होने की जनश्रुति है। राजस्थान के प्रतिभावान् एवं साधन-सुविधा प्राप्त विद्वानों को ऐसे भक्त कवि पर शोध-खोज कर इनकी रचनाओं के मूल्यांकन से साहित्यि संसार को परिचित कराना चाहिये और साहित्य के साथ-साथ उनके जीवन, साधना, इति-वृत्तादि को भी प्रकाश मे लाना चाहिए। भक्त कवि अलूजी की वंश-परम्परा मे करणीदान कविया आलणियावास, गोपालदान चोखां का वास, रामदयाल फतहसिंह की ढानी, हिंगळाजदान सेवापुरा और मानदान दीपपुरा जैसे विद्वान् कवि हो गये हैं। इन कवियो के घरानों से सारी सामग्री संकलित करना आवश्यक है।

# राजस्थानी आदिकालीन लोक साहित्य

श्री मनोहर शर्मा

अपने लोक साहित्य के संकलन एवं संरक्षण की ओर भारतीय प्रजा का सदा से ही ध्यान रहा है। इस विषय में पुराण, जातक, वृहत्कथा, पञ्चतंत्र तथा कथाकोश आदि ग्रंथ प्रमाण हैं। इनमें लोक कथाओं और गाथाओं का प्रचुर परिमाण में संग्रह हुआ है। इतना जरूर है कि कई ग्रंथों में विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए, लोक-प्रचलित साहित्य-सामग्री को सँवार-सजा कर प्रस्तुत किया गया है जिससे उसका स्वाभाविक रूप कुछ बदल गया है, फिर भी लोक साहित्य की दृष्टि से उसका अध्ययन करना कम उपयोगी नहीं है।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ अपभ्रंश से विकसित हुई हैं परन्तु इस विषय में कोई सीमा-रेखा नहीं खेंची जा सकती जो इन दोनों को स्पष्ट रूप से अलग अलग कर दे। भाषा के विकसित होने का काम एक दिन का नहीं है, यह धीरे-धीरे होता है। उत्तरकालीन अपभ्रंश में आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का पूर्वरूप प्रगट है। इस काल की लोक-प्रचलित साहित्य सामग्री का एक विशेष प्रकार से संग्रह भी हुआ है। आचार्य हेमचंद्र ने सिद्धराज जयसिंह के लिए अपने व्याकरण ग्रंथ 'सिद्धहेमचंद्रशब्दानुशासन' की रचना करते समय उसके अपभ्रंश-विभाग में उदाहरणस्वरूप लोक-प्रचलित दोहे बड़ी संख्या में दिए हैं। इसी प्रकार सोमप्रभसूरि विरचित 'कुमारपालप्रतिबोध' ग्रंथ की प्राकृत भाषा में लिखी गई कथाओं में यत्र तत्र तत्कालीन लोक-प्रचलित पद्य प्रस्तुत किए गए हैं। यह ग्रंथ अनहिलपट्टन में सं० १२४१ में समाप्त हुआ था। आचार्य मेरुतुंग ने वढवान में सं० १३६१ में अपने संस्कृत ग्रंथ 'प्रबंधचिन्तामणि' की रचना की। इस ग्रंथ में भी प्रसंगानुसार लोक प्रचलित पद्यों का प्रयोग किया गया है। निश्चय ही ये पद्य आचार्य मेरुतुंग के समय से पुराने

हैं। इस प्रकार इन जैन विद्वानों द्वारा लोक साहित्य के संग्रह तथा सरक्षण का जो परमोपयोगी कार्य हुआ, उसके लिए साहित्य-रसिक इनके चिर ऋणी रहेंगे।

इस साहित्य-सामग्री की भाषा को विद्वानों ने अलग अलग नाम दिए हैं। स्वर्गीय चद्रधरजी गुलेरी ने इसे 'पुरानी हिंदी' कहा है। इस विषय मे उनका विस्तृत लेख नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में सं० १९७८ में प्रकाशित हुआ है जिसमें बडी गहराई से शब्दार्थ एवं भावार्थ पर प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार इस भाषा को 'जूनी गुजराती' तथा 'प्राचीन राजस्थानी' नाम भी दिए गए हैं। नाम कुछ भी दिया जाये, परन्तु इससे अस्वीकार नही किया जा सकता कि यह प्राचीन साहित्य-सामग्री एवं इसकी परम्परा आज भी राजस्थान तथा गुजरात में थोड़े-बहुत परिवर्तित रूप में लोक-प्रचलित है। गुजराती एव राजस्थानी भाषाएँ सौलहवी शताव्दी से अलग अलग हुई हैं, इससे पूर्व ये दोनो एक ही रूप में थी। ऐसी स्थिति मे हेमचद्राचार्य आदि जैन विद्वानों द्वारा सकलित इस सामग्री को राजस्थानी भाषा का आदिकालीन लोक-साहित्य मानना सर्वथा संगत है। इसके शब्दरूप भी राजस्थानी में अब तक चले आ रहे हैं।[1]

इस लेख मे इसी सामग्री के आधार पर राजस्थानी आदिकालीन लोक-साहित्य पर कुछ विस्तार से प्रकाश डालने की चेष्टा की जाती है। आगे हेमचंद्र, सोमप्रभ तथा मेरुतुंग के नामो का सकेत स्थान-स्थान पर किया गया है। इसका यह अभिप्राय नही है कि नामांकित पद्य उन विद्वानों की अपनी रचनाएँ हैं। ये तो लोक-साहित्य की चीजें हैं जो इन विद्वानो द्वारा संकलित अथवा प्रयोग मे लाकर सुरक्षित की गई हैं।

लेख मे जहां कही प्राचीन सामग्री पर विचार किया गया है, वही उसका वर्तमान रूप अवश्य दिखलाने की चेष्टा की गई है। लोक साहित्य बहती हुई धारा के समान है। यह साहित्य-धारा पीढ़ी-दर-पीढी चलती रहती है। अत. इसकी परम्परा का अध्ययन करना बडा रोचक तथा उपयोगी होता है। आज एक देहाती व्यक्ति जो दोहा बोलता है, नही कहा जा सकता कि वह कितना पुराना है और न जाने समय-समय पर लोकमुख पर अवस्थित रहते हुए वह कैसा-कैसा भाषागत परिवर्तन कर चुका है। यह लोक-साहित्य की

---

[1] इस विषय मे शोध-पत्रिका (३।१) मे लेखक का 'प्राचीन राजस्थानी' शीर्षक लेख द्रष्टव्य है।

महिमा है। इस पर जितनी गहराई से विचार किया जाय, उतनी ही नई नई चीजें प्रकाश में आती हैं।

इन दोहों में कई ऐसे हैं जिनका हेमचंद्र और सोमप्रभ दोनों ही ने अपने ग्रंथों में उपयोग किया है। यह स्थिति इन दोहों की जनप्रियता की सूचक है। आगे इस दिशा में कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं जिनसे इनके पाठभेद का पता चलेगा। ऐसा होना प्रचलित काव्य के लिए एक स्वाभाविक प्रक्रिया है—

१. अम्हे थोवा रिउ बहुअ कायर एम्व भणन्ति
मुद्धि निहालहि गयणयलु कइ जण जोण्ह करन्ति। —हे०च०
अम्हे थोवा रिउ बहुय इउ कायर चिंतंति
मुद्धि निहालहि गयणयलु कइ उज्जोउ करति। —सो० प्र०

२. मइं जाणिउं पियविरहि अह कवि धर होइ विआलि
णवर मिअङ्कु वि तिह तवइ जिह दिणयरु खयगालि। —हे० चं०
मइ जाणियउ पिय विरहियह क वि घर होइ वियालि
नवरि मयकु वि तह तवइ जह दिणयरु खयकालि। —सो० प्र०

३ चूडुल्लउ चुण्णी होइसइ मुद्धि कवोलि निहित्तउ
सासानल जाल झलक्किअउ वाह सलिल संसित्तउ। —हे० च०
चूडउ चुन्नी होइसइ मुद्धि कवोलि निहित्तु
सासानलिण झलक्कियउ वाह सलिलि संसित्तु। —सो० प्र०

४. माणि पणट्ठइ जइ न तणु तो देसडा चइज्ज
मा दुज्जणकरपल्लवेंहि दंसिज्जन्तु भमिज्ज। —हे० च०
माणि पणट्ठइ जइ न तणु तो देसडा चइज्ज
मा दुज्जनकरपल्लविहि दंसिज्जतु भमिज्ज। —सो० प्र०

यह स्थिति यहीं तक समाप्त नहीं हुई। आज भी तत्कालीन अनेक दोहे राजस्थानी एव गुजराती जनता में परिवर्तित रूप में प्रचलित हैं। इससे इस साहित्य-सामग्री की अति दीर्घकालीन लोकप्रियता प्रकट होती है। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं—

१. वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति। —हे० च०
काग उडावण घण खडी, आयो पीव भड़क्क
आधी चूड़ी काग गळ, आधी गई तड़क्क।
कामण काग उडावती, पीयु आयो भदकाह
आधी चूड़ी कर लगी, आधी गइ तड़कांह।

२. ऊग्या ताविउ जहिं न किउ लक्खउ भरगइ निघट्ट
गरिगया लब्भइ दीहडा के दहक अहवा अट्ठ। —मे० तु०
खा ले पी ले खरच ले, लाखो कहे सुघट्ट
गिण्या दिहाडा पावसी, कै दस्सा कै अट्ठ।
लाखो कें' माण्या नहिं, छते हुते सैरा
दियाडा दस आठ मे, को जाणैं हो केम।

इसके साथ ही इन प्राचीन दोहों का राजस्थान में वर्तमान समय में प्रचलित दोहों के साथ भाव-साम्य भी देखने योग्य है। कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

१. गुणहिं न संपइ कित्ति पर फल लिहिआ भुंजन्ति
केसरि न लहइ बोड्डिअवि गय लक्खेहिं घेप्पन्ति। —हे० चं०
एकइ वन्न वसंतडा, एवड अंतर काय
सिंघ कवड्डी ना लहै, गयवर लक्ख बिकाय।
(गयवर गळे गळथियो, जहँ खचँ तहँ जाय
सिंघ गळथ्थरा जे सहै, तो दह लक्ख बिकाय।)

२. भल्ला हुआ जु मारिआ, बहिणि महारा कन्तु
लज्जेज्जं तु वयंसिअहु, जइ भग्गा घरु एन्तु। — हे० च०
भागे मत तूं कथड़ा, तो भागे मुझ खोड
म्हारी सग-सहेलड़ी, ताळी दे मुख मोड़।

३. जो गुरग गोवइ अप्पणा पयडा करइ परस्स
तसु हउ कलिजुगि दुल्लहहो बलि किज्जउ सुअरगस्सु। — हे० चं०
निज गुरा ढाकरा, नेत नित, पर गुरा गिरा गावंत
ऐसा जग मे सुजरा जरा, बिरळा हो पावत।

४. जे महु दिण्णा दिअहडा दइएं पवसन्तेरा
तारा गरान्तिए अङ्गुलिउ जज्जरियाउ नहेरा।
आवूं आवू कर गया, कर गया कोल अनेक
गिणतां गिणतां घस गई, आंगळिया री रेख।

कहावतें लोक-साहित्य का एक विशिष्ट अंग हैं। राजस्थानी का आदि-कालीन लोक-साहित्य इनसे भरा-पूरा है। यह सामग्री कहावतों के विकास के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आगे कहावतों के कुछ उदाहरण चुन कर दिए जाते हैं। इनसे मिलती हुई कहावतें अब भी प्रचलित हैं—

१. अह विरल-पहाउ जि कलिहि धम्मु। — हे० च०
(अब कलियुग में धर्म का प्रभाव कम हो गया है)

२. अग्गिए दड्ढा जइवि घरु तो तें अग्गिं कज्जु। — हे० चं०
(आग से घर जल जाने पर भी उससे काम रहता ही है।)

३. तं बोल्लिअइ जु निव्वहइ। — हे० चं०
(वही बोलो जो निबाहा जा सके।)

४. तसु दइवेण विमुण्डियउं जसु खल्लिहडउं सीसु। — हे० चं०
(जिसका सिर गंजा है, उसे तो दैव ने ही मूंड दिया है।)

५. नेहि पणट्ठइ तेज्जि तिल तिल फिट्टवि खल होन्ति। — हे० चं०
(नेह के हटने से वे ही तिल बिगड़ कर खल हो जाते हैं।)

६. जेवडु अन्तरु रावण रामहं,
तेवडु अन्तरु पट्टण गामहं। — हे० चं०
(जितना अंतर राम और रावण में है, उतना ही अंतर पट्टण और गांव में है।)

७. घइ विवरीरी बुद्धडी होइ विणासहो कालि। — हे० चं०
(विनाश काल में बुद्धि विपरीत हो जाती है।)

८. *जं वाहिउ तं सारु। —हे० च०*
(जो बीत गया वही सार है।

९ गंगाजलपक्खालिय वि सुणिहि कि होइ पवित्त।—सो० प०
(गंगाजल से धोने पर भी क्या कुतिया पवित्र हो सकती है ?)

१०. जित्तिउ पुज्जइ पग्गुरणु तित्तिउ पाउ पसारि। — सो० प्र०
(जितनी चादर हो उतना ही पांव फैलाना चाहिए।)

राजस्थान में इस प्रकार के बहुसंख्यक पद्य लोक-प्रचलित हैं जिनमें किसी प्रसंग की चर्चा कर के अन्त में कहावत का प्रयोग किया गया है। ऐसे पद्य 'अधूरा पूरा' या 'अरथ सिलोका' कहे जाते हैं। लोग इनका प्रयोग बातचीत को सरस बनाने के लिए विशेष रूप से करते हैं। इसी दृष्टि से एक प्राचीन पद्य यहां प्रस्तुत किया जाता है:—

एक कुडुल्ली पंचहि रुद्धी
तह पंचह वि जुअजुअ बुद्धी
बहिणुए त घरु कहि किम नन्दउ
जेत्थु कुडुम्बउ अप्पण छन्दउ।

[एक कुटी (शरीर) पांच (इन्द्रियों) से रुकी गई है। उन पांचों की बुद्धि भी अलग-अलग है। हे बहिन, बतलाओ, वह घर किस प्रकार प्रसन्न हो, जहां कुटुम्ब अपन-छन्दा (अपने ही मन के अनुसार काम करने वाला) हो ?]

देखने में यह पद्य एक पहेली-सा लगता है। तुलना के लिए निम्न राजस्थानी पहेली देखिए:—

एक गाव में राजा ग्राठ
सै का न्यारा न्यारा ठाठ
सुणो सखी एक ग्रचरज देख्यो
एक बही में सै को लेखो। (गंजीफो)

इसके साथ ही ऊपर दिए गए प्राचीन पद्य की नीचे लिखे पद्यों (ग्रधूरा पूरा) से भी तुलना कीजिए:—

एक बळद पीठ सू खांडो
राख्युं नाह लदावे टांडो
घरां बांधण नें नाही ठाम
पोथी चिडी कपूरी नाम। —१
एक सोड ग्रर जणा पचास
सारा करै ग्रोडण की ग्रास
साभ पडचां हो खैंचा-ताणी
खाता खाण न पीतां पाणी। —२
एक घोडो सौ जणां सीप
चरण जाय संमदरां तीर
घर बाधण नें नही जायगा
डेड घोडो डीडवाणै पायगा। —३
एक ही चावळ वो ही सीधो
नित उठ नार करावै सीधो
देखो तेरै सीधै की सोच
लेणा एक न देणा दोय। —४
एक कूवो पियो सह चावै
पाणी बाटो बाटो ग्रावै
गाय माय भळीनो हूवो
तो लागी लाय सुदावे कूवो। —५

ये पद्य भी किसी ग्रश में प्राचीन पद्य की परम्परा के से प्रतीत होते हैं। साथ ही प्राचीन पद्य की 'नन्दउ' क्रिया भी विचार करने योग्य है। ग्रर्वाचीन राजस्थानी एव गुजराती के ये प्रयोग देखिए.—

१. दीवो नंदगो। (बुझगो = बुझ गया)
२ पूजी नदगी। (निमडगी = समाप्त हुई)
३ पुडी नदगी। (पूटगी)—गुजराती

यहां तीनों वाक्यों को मांगलिकता प्रदान करने के लिए 'नंदणो' क्रिया का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार 'वधणो' क्रिया का प्रयोग भी होता है। लोक साहित्य की एक ही चीज कितनी अधिक सूचनाओं से भरीपूरी हो सकती है, इस तथ्य का यह प्राचीन पद्य एक उदाहरण है।

राजस्थान में बहुत बड़ी संख्या में सुभाषित के दोहे लोक-प्रचलित हैं। लोग ऐसे दोहों का कहावत के समान प्रयोग कर के अपने कथन को प्रमाण-पुष्ट बनाते हैं। आगे इसी प्रकार के कुछ प्राचीन उदाहरण नमूने के रूप में दिए जाते हैं। इनसे मिलते हुए पद्य राजस्थानी जन-साधारण में मिल सकते हैं:—

१. कहिं ससहरु कहिं मयरहरु कहिं बरिहिणु कहिं मेहु
दूरठिआहवि सज्जणहं होइ असड्ढलु नेहु। —हे० च०
(कहा चंद्रमा और कहा समुद्र, कहा मोर और कहा मेघ? दूर स्थित होने पर भी सज्जनों का प्रेम ढीला नही होता)

२. सरिहिं सरेहिं न सरवरेंहिं न वि उज्जाणवणेहिं
देस रवण्णा होन्ति वढ निवसन्तेहिं सुअणेहिं। —हे० च०
(देश न सरिताओ से, न सरो से, न सरोवरो से और न उद्यान-वनों से ही रमणीय होते हैं, वे तो स्वजनो के बसने से ही रमणीय होते हैं।)

३. बलि अब्भत्थणि महुमहणु लहुईहूआ सोइ
जइ इच्छहु वड्डत्तणउं देहु म मग्गहु कोइ। —हे० चं०
(राजा बलि के यहा मागने से स्वय मधु-मथन विष्णु भी छोटे हुए। यदि कोई भी बडप्पन चाहता है तो देवे ही, मागे कभी भी नही।)

४. जीविउ कासु न वल्लहउ धणु पुणु कासु न इट्ठु
दोण्णिवि अवसर निवडिआइ तिण सम गणइ विसिट्ठु। —हे० चं०
(जीवन किसको प्रिय नही? इसी प्रकार धन किसको इष्ट नही? परन्तु समय आने पर विशिष्ट व्यक्ति इन दोनों को ही तिनके के समान समझते हैं।)

इस साहित्य-सामग्री में पुराण कथाओं के पात्रों से सम्बन्धित अनेक पद्य हैं और ये बडे रोचक हैं। यहा कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं.—

१. मइं भणिअउ बलिराय तहु केहउ मग्गण एहु
जेहुं तेहु नवि होइ वढ सइ नारायण एहु। — हे० च०
(शुक्राचार्य—बलिराज, मैंने तुझे कहा कि यह कैसा याचक है? यह ऐसा-वैसा नहीं है, यह तो स्वयं नारायण है।)

२. इत्तउं ब्रोप्पिणु सउणि ट्ठिउ पुणु दूसासण ब्रोप्पि
तो हउं जाणउं एहो हरि जइ महु अग्गइ ब्रोप्पि। — हे० चं०

(इतना कह कर शकुनि ठहर गया। फिर दुःशासन बोला—यदि मेरे आगे बोले तो मैं जानूं कि यह हरि है।

३. व्रासु महारिसि एउ भणइ जइ सुइसत्थु प्रमाणु
मायहं चलण नवन्ताहं दिवि दिवि गंगाण्हाणु। — हे० चं०
(महर्षि व्यास ऐसा कहते हैं कि यदि श्रुतिशास्त्र प्रमाण है तो माताओं के चरणों मे नमन करने वालों के लिए प्रतिदिन गगास्नान है।)

४. वड रुक्खह दाहिण दिसिहिं जाइ विदब्भहि मग्गु
वाम दिसिहि पुण कोसलिहि जाहु रुच्चइ तहि लग्गु। — सो० प्र०
(बड़ के वृक्ष की दाहिनी दिशा में विदर्भ को मार्ग जाता है और बाई दिशा में कौसल को जाता है। जो अच्छा लगे, वही पकड़ लेना।)

५. निट्ठुर निक्किवु काउरिसु एकुजि नलु न हु भंति
मुक्कि महासइ जेण विणि निसि सुत्ती दमयति। — सो० प्र०
(जिसने महासती दमयंती को वन मे रात के समय सोती हुई को छोड दिया, ऐसा निष्ठुर, निष्कृप और कापुरुष एक नल ही है, इसमें कोई भ्रांति नही।)

यह आवश्यक नही है कि ऊपर दिए गए दोहे तत्कालीन पुराण कथाओ से बिछुड़े हुए ही हों। राजस्थान में अब भी अनेक ऐसे पद्य प्रचलित हैं, जो पुराण कथाओं के प्रसगो से सम्बन्धित हैं या उनके पात्रों के मुख से कहलवाए गए हैं। लोग मौके पर ऐसे पद्य बोलते रहते हैं और जन-साधारण को यह चीज बडी रोचक है। आगे कुछ प्रचलित पद्य इस परम्परा मे दिए जाते है। ये पद्य ऊपर दिए गए प्रसगों से नही मिलते परन्तु इस परम्परा के परिचायक हैं—

१. भली भई मै ना बलो, बहलोचन कै सत्थ
मेरो बळ ऐसो भयो, हरजो मांडया हत्थ।

२. हर बडा क हिरणा बडा, सुगन बडा क स्याम
अरजन रथ नें हांक ले, भली करेगो राम।

३ जब लग धड पर सीस है, तब लग देवू न क्यार
धड सें सिर न्यारो हुयां, (भावूं) सारी लेवो सम्हाळ।

४. गरबै मतना गूजरी, देख मटूकी छाछ
नव सै हाथी घूमता, नळ राजा रै बास।

५ राम कवै सुण निछमणा, ताक लगावो तीर
उतरया पाछै ना चढै, नरा गिरवरा नीर।

६. राम कवै सुग्रीव नैं, लका केती दूर
आळसिया अळगी घणी, उद्यम हाथ हजूर।

७. सुण कुभा रावण कवै, आण भराणा अंक
पावां पडियां ना रहै, लाखा वातां लंक।

इस साहित्य-सामग्री में अनेक दोहे मुंज, भोज, सिद्धराज जयसिंह, खेंगार, लाखा फूलांणी एवं ढोला आदि ऐतिहासिक व्यक्तियो से सम्बन्धित हैं। राजस्थान में यह प्रवृत्ति बडी प्रवल है और यहां ऐतिहासिक व्यक्तियो के विषय में अत्यधिक पद्य लोक-प्रचलित हैं। भले ही इन सब के प्रसंगों की ऐतिहासिकता निराधार हो परन्तु फिर भी वे जन-साधारण के इतिहास-बोध के परिचायक हैं। लोग इस सामग्री से अपना समय सरस करते हैं और प्रेरणा ग्रहण करते हैं। यहां भोज सम्बन्धी दो दोहे उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किए जाते हैं—

एक रात नगर में घूमते समय भोज ने एक दिगम्बर को यह दोहा बोलते हुए सुना—

एऊ जम्मु नग्गहं गिउ भडसिरि खग्गु न भग्गु
तिक्खा तुरिया न माणिया गोरी गळि न लग्गु। — मे० तु०

इसी प्रकार एक रात राजा भोज ने किसी दरिद्र की स्त्री के मुख से निम्न दोहा कहे जाते हुए सुना—

मागुसडा दस दस दमा मुनियइ लोय पसिद्ध
मह कन्तह इक्कज दसा अवरि ते चोरहि लिद्ध। — मे० तु०

इन दोनो दोहों का वर्तमान समय मे चालू रूप इस प्रकार है—

जलम अकारथ ही गयो, भड सिर खड्‌ग न भग्ग
तीखा तुरी न माणिया, गोरी गल् न लग्ग। —१
राजा जिण दिन जनमियो, वा ही दस दसी
मेरी बरियां के भयो, या ही धमधसी। —२

समय पाकर दूसरे दोहे में कुछ अन्तर आ गया है और प्रसग भी कुछ वदल गया है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक पद्य भी राजस्थान में राजा भोज के सम्बन्ध में प्रचलित है। उदाहरण के लिए एक पद्य दृष्टव्य है—

नीचो नीचो डोकरी, कं वा काई खोज
मेरे सं तेरं गई, सुण रै राजा भोज
तेरे सं भी जायगी, जे को वोनी साधे खोज।

इस साहित्य-सामग्री में ढोला के नाम का प्रयोग नायक के अर्थ में हुआ है। राजस्थानी काव्य में ढोला और मरवण नायक-नायिका के रूप में प्रतिष्ठित हैं और यहां इस सम्बन्ध में अत्यधिक सामग्री लोक-प्रचलित है। प्राचीन सामग्री में से दो दोहे यहा उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किए जाते हैं—

१. ढोल्ला मइं तुहुं वारिया मा कुरु दीहा माणु
निद्दए गमिही रत्तडी दडवड होई विहाणु ।—हे. चं.

२. ढोल्ला एह परिहासडी अइ भण कंवणहि देसि ।
हउ झिज्जउं तउ केहि पिअ तुहुं पुणु अन्नहि रेसि ।—हे. चं.

(ढोला ! मैंने तुझे निवारण किया है कि तू दीर्घ मान न कर। नींद मे रात बीत जाएगी और झटपट सवेरा हो जाएगा ।
ढोला ! बलला, यह परिहास किस देश मे है ? मैं तेरे लिए छीज रही हूँ और तू अन्य के लिए ऐसा करता है ।)

राजस्थानी जन-काव्य 'ढोला मारू रा दूहा' सुप्रसिद्ध है। नहीं कहा जा सकता कि ऊपर दिए गए प्राचीन दोहे इस काव्य की कथा से सम्बन्धित हैं परतु फिर भी वे वर्तमान काव्य की नायिका मालवणी के मुख से कहे गए निम्न दोहों का स्मरण करवाते हैं:—

ढोला आमण दूमणउ, नख तो खोदइ भीति
हम थी कुण छइ आगळी, वसी तुहारइ चीति ।—२३७
साहिब रहउ न राखिया, कोडि प्रकार कियाह
का थां कामिण मन बसी, का म्हा दूहवियाह ।—२३५

इस प्राचीन साहित्य सामग्री में एक समस्यापूर्तिमूलक दोहा इस प्रकार है—

बिम्बाहरि तणु रयणवणु किह ठिउ सिरि आणन्द
निरुवम रसु पिए पिअवि जणु सेसहो दिण्णी मुद्द ।—हे. चं.

(हे श्री आनद ! बिम्बफल के समान अधर के ऊपर रदन-व्रण कैसे स्थित हुआ ? प्रियतम ने निरुपम रस पीकर मानो शेष पर मुद्रा लगा दी है।)

जन-श्रुति है कि सिद्धराज जयसिंह की सभा में आनद और करमानंद दो कवि थे, जिनमे से एक प्रश्नात्मक समस्या रखता और दूसरा उसको उत्तर के रूप में पूर्ति करता। इस विषय में स्व० झवेरचंद मेघाणी ने अपने ग्रंथ 'चारणो अने चारणी साहित्य' में कई जगह चर्चा की है। ऊपर का प्राचीन दोहा भी प्रश्न और उत्तर के रूप में ही है। यह परम्परा गुजरात एव राजस्थान में अब भी प्रचलित है। उदाहरण देखिए—

१ आणद के करमाणदा, माणसे माणसे फेर ?
एक लाखु' देतां नव मळे, एक टका नां सेर

२ आनद कयं परमानंदा, गांव में केहड़ी गल्ल ?
नर ने मोड़े मार कर, ये गावे टोडरमल्ल

इन दोनों दोहों के समान 'आनद' का नाम प्राचीन दोहे में मौजूद है, परन्तु उसमें 'करमानद' एव 'परमानंद' का उल्लेख नहीं है। जन-साधारण की

यह विशेष प्रवृत्ति है कि लोग प्राचीन प्रसगो में वृद्धि कर लेते हैं जिससे उनमें परिवर्तन आ जाता है और साथ ही नए पद्य भी तैयार हो जाते हैं। ऊपर लाखा फूलाणी विषयक एक प्राचीन दोहे के गुजराती एवं राजस्थानी रूपान्तर दिखलाए गए हैं। परन्तु यह बात यही समाप्त नही हो गई। गुजरात एवं राजस्थान में इसी विषय का प्रसंग बदल कर और भी नए दोहे बढ़ा लिए गए हैं और वे बड़े ही रोचक हैं।[1] यहां एक अन्य उदाहरण इस विषय में और प्रस्तुत किया जाता है -

शंखपुर के राजा पुरंदर के यहां एक सरस्वती कुटुम्ब आता है और उसके द्वारा राजा की दो समस्याओं की पूर्ति इस प्रकार की जाती है—

१. रावण जायउ जहि दियहि दह मुह एक्क सरीरु
चिताविह तइयहि जणणि 'कवणु पियावउ खीरु'।
२. कीइवि विरहकरालियहे उड्डावियउ वराउ
इउ अच्चभुउ दिट्ठु मइ 'कंठि वलुल्लइ काउ'।—सो. प्र.

प्रबन्ध-चिन्तामणि में यही प्रसग राजा भोज के सम्बन्ध में कहा गया है और समस्याओं की पूर्ति भी इसी रूप में है—

१. जइ यह रावणु जाईयउ दह मुह इक्कु सरीरु
जणणि वियम्भी चिन्तवइ 'कवणु पियावउ खीरु।
२. काए वि विरहकरालिइ पइ उड्डावियउ वराउ
सहि अच्चभुउ दिट्ठु मइ 'कण्ठि विलुल्लइ काउ'।

यही प्रसग अब भी राजस्थान में कहा-सुना जाता है परन्तु उसमें न पुरदर का नाम है और न भोज का। एक राजा को एक पक्षी चार समस्याएँ देता है। उनकी पूर्ति राजा की सभा का कोई पण्डित नही कर पाता है। अत में किसी ब्राह्मण की पुत्री द्वारा उनकी इस प्रकार पूर्ति की जाती है—

राजा रावण जनमियो, दस मुख एक सरीर
जननी नें सांसो भयो, 'किण मुख प्यावू खीर'।—१
गंधारी सो जलमिया, कुंती पांच जणेह
पांचां भारथ जीतियो, 'काहे करे पणेह'।—२
रैण सवाई बैण वइ, कायर हरख महाण
गैली जोवन मूम धन, 'कारज किण विध लाग'।—३

---

[1] द्रष्टव्य, वरदा (वर्ष ३, अंक ३) में लेखक का 'एक धारा, दो प्रवाह' शीर्षक लेख।

बरस पचास बोळाइया, बाला घरा परणेह
बा रंडापो भोगमी, 'ता अब काह करेह' ।—४

इम साहित्य-सामग्री में सिद्धराज जयसिंह द्वारा खेंगार के मारे जाने पर उसकी रानी के मुख से प्रकट किए गए अनेक शोकोद्गार हैं। इस प्रसंग के ये पद्य परिवर्तित रूप में गुजरात में अब भी प्रचलित हैं। राजस्थानी लोक गीतों में भी खेंगार का नाम बहुत अधिक आता है। इसी प्रकार इस प्राचीन सामग्री मे मुंज और मृणालवती की प्रेम-कथा से सम्बन्धित भी अनेक दोहे हैं। राजस्थान एवं गुजरात में अनेक दोहामयी प्रेम-कथाएँ लोक-प्रचलित हैं जो इसी प्राचीन परम्परा से सम्बन्धित हैं। स्व० मेघाणीजी ने अपने ग्रंथ 'सोरठी गीत-कथाओ' में ऐसी अनेक प्रेम-कथायें दी हैं। इनमें से कई राजस्थानी रूप में भी प्राप्त हैं और बड़ी जन-प्रिय हैं। लोग कथा कहते चलते हैं और बीच-बीच में प्रसंगानुसार दोहों का प्रयोग कर के उसको रसपरिपूर्ण बना देते हैं। ये दोहे गाए भी जाते हैं। यदि किसी कथा में अधिक दोहे या सोरठे होते हैं तो वे सब मिल कर एक काव्य-सा विदित होते हैं। स्वर्गीय मुंशी अजमेरीजी ने 'ढोला मारू रा दूहा' काव्य की आलोचना करते समय लिखा है[1]— इसके दोहों का कलेवर इतना अधिक बढ़ गया है कि कथा-भाग एक प्रकार से चलता चलता है। फिर भी यह बात नहीं है कि गद्य की आवश्यकता कहीं भी प्रतीत न होती हो, वह तो यत्र तत्र प्रतीत होती है। इसी से मैं कहता हूँ कि यह गद्य वार्ता के दोहों का संग्रह है।' इसी रूप में मुंज विषयक प्राचीन दोहे हैं। मुंज और मृणालवती की प्रेम-कथा प्रसिद्ध है। यहां उसके कुछ चुने हुए दोहे नमूने के तौर पर दिए जाते हैं—

१ मुंज भणइ मुणालवइ जुव्वन गयु न झूरि
जइ सक्कर सय खंड थिय तो इस मीठी चूरि।

२. झोली तुट्टी किं न मुउ किं न हुयउ छार पुंज
हिंडइ दोरीबंधीयउ जिम मक्कड तिम मुंज।

३ जा मति पच्छइ संपज्जइ सा मति पहिलीं होइ
मुंज भणइ मुणालवइ विघन न वेढइ कोइ।

४ सायर खाई लंक गढ गढवइ दस सिरि राउ
भग्गक्खय सो भज्जि गय मुंज म करि विसाउ।—मे. तु.

---

[1] नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १६, पृ० ४०६–४१०

(मुंज कहता है कि हे मृणालवती ! गए हुए यौवन को स्मरण कर के चित में दुख न कर। यदि शक्कर ( की बनी हुई चीज ) के सौ टुकड़े हो जाएँ तो यह चूर्ण होने पर भी मीठी ही होती है।)

(यह मुंज (बचपन में) झोली के टूटने से गिर कर क्यों न मर गया या अग्नि में जल कर राख क्यों न हो गया, जो इस प्रकार रस्सी से बंधे हुए बंदर की तरह घूमता है।)

(मुंज कहता है कि हे मृणालवती ! जो बुद्धि पीछे पैदा होती है वह यदि पहले ही उत्पन्न हो जाय तो कोई विघ्न आ कर नही घेर सकता।)

(हे मुंज ! इस प्रकार खेद न कर। भाग्य-क्षय होने पर वह रावण भी नष्ट हो गया था जिसका गढ़ तो लंका था, जिस गढ की खाई समुद्र था और जिस गढ का स्वामी वह स्वयं दस मस्तक वाला रावण था।)

इस साहित्य-सामग्री में तत्कालीन लोक कथाओं सम्बन्धी अच्छी सूचनायें हैं। यह नही कहा जा सकता कि किसी भी प्रदेश में प्रचलित एक लोक कथा कितनी पुरानी हो सकती है। क्योंकि लोक कथायें स्थान एव समय की सीमाओं को नही मानती और वे पीढ़ी दर पीढी चलती ही रहती हैं भले ही इस प्रक्रिया में उनका रूप-परिवर्तन हो जाए। राजस्थानी लोक कथाओं में पद्यों का प्रयोग करने की विशेष परिपाटी है जो पुराने जमाने से चली आ रही है। इनमें से कई पद्य बीजश्लोक के समान होते हैं, जिनमें कथा की सार-सूचना समाई रहती है। इस सामग्री में से ऐसे दो पद्य द्रष्टव्य हैं—

१ नरवइ आण जु लंघिहइ वसि करिहइ जु नरिंदु
हरिहइ कुमरि जु कणगवइ होसइ इह सु नरिंदु

२. सीहु दमेवि जु वाहिहइ इक्कु वि जिणिहइ सत्तु
कुमरि पियंकरि देवि तसु अप्पहु रज्जु समत्तु ।—प्रो. प्र.

(जो नरपति की आन का उल्लंघन करेगा, जो नरेन्द्र को वश मे करेगा और जो कुमारी कनकवती का हरण करेगा, वह यहा नरेश होगा।

जो सिंह को दबा कर उस पर सवारी करे और जो अकेला ही शत्रुओं को विजय करे उसे कुमारी प्रियंकरी दे कर समस्त राज्य समर्पण कर दो।)

इसी प्रकार आगे तत्कालीन दो लोक कथाओं के पद्य और प्रस्तुत किए जाते हैं जो राजस्थान में अद्यावधि लगभग उसी रूप में प्रचलित है—

एक कांवड ढोने वाले को उसकी स्त्री समझाया करती थी कि वह देव-पूजा करे जिससे कि अगले जन्म मे दारिद्र्य-दुख न हो। परन्तु वह नही मानता था उसकी स्त्री ने नदी-जल एव पुष्प से पूजा की। वह उसी दिन बीमार हो कर मर गई और अगले जन्म में राजकन्या तथा राजरानी बनी। एक बार उसने

अपने पूर्व जन्म के पति को मंदिर में उसी अवस्था मे देख कर पहिचान लिया और यह दोहा कहा—

> अडविहि पत्ती नइहि जलु तो वि न वूहा हत्थ
> अव्वो तह कव्वाडियह अज्ज विसज्जिय वत्थ

( अटवी के पत्ते और नदी का जल सुलभ था तो भी तूने हाथ नही हिलाए। हाय, आज उस कांवड वाले के तन पर वस्त्र भी नहीं हैं। )

राजस्थानी महिला समाज मे कार्तिक मास मे अनेक पुण्यमयी कहानिया कही जाती हैं। उनमे से कठियारा-कठियारी की कहानी ऊपर दी गई कथा से लगभग ज्यों की त्यों मिलती है। उसका पद्य इस प्रकार है—

> कांतिगडे नह न्हाइया, हर नह जोडया हत्थ
> सायधण बैंठी समदरां, तेरी वा ही गत्त।

इसी प्रकार एक अन्य प्राचीन लोक कथा में एक बहू पशु-पक्षियो की भाषा जानती है। आधी रात के समय एक गीदड़ नदी के किनारे बोलता है कि बहने वाले मुर्दे के गहने कोई ले लेवे और वह मुर्दा उसे दे देवे। वहू उठ कर चल पडती है और उसका श्वसुर छिपे तौर पर पीछे जाता है। लौटते समय श्वसुर उसे देखता है और अ-सती समझ कर उसे उसके पीहर पहुँचाने ले जाता है। मार्ग मे एक कौआ एक पेड़ के नीचे निधि होने की सूचना देता है। इस पर बहू कहती है—

> एक्के दुन्नय जे कया तेहिं नीहरिय घरस्स
> बीजा दुन्नय जइ करउ तो न मिलउ पियरस्स।—सो. प्र.

( एक दुर्नय किया जिसके कारण घर से निकली और अब यदि दूसरा दुर्नय करू तो कभी भी प्रिय से न मिलू। )

लगभग इसी रूप मे यह लोक कथा अब भी राजस्थान मे प्रचलित है। वह इस प्रकार है—

> कोक पढंनी कामणी, जम्बू सुगन विचार
> नदी मे मुरदो बवै, लाल जार मे च्यार।—१
>
> कोक पढती कामणी, कागा सुगन विचार
> इण बिरछा की मूळ में, चरू गडी है च्यार।—२
>
> कुछ करणी कुछ करम गत, कुछ पूरबला भाग
> बो जम्बू तो या करी, तूं के करसी काग।—३

अन्य रूप

आगै जम्बुक बोलियो, पिया जो मानी रीस
अब कागो ऐसो कवै, नौ ते'रा बाईस ।—१

लोक-जीवन के अध्ययन के लिए लोक-साहित्य सर्वोत्तम साधन है। राजस्थानी के आदिकालीन लोक-साहित्य में तत्कालीन जन-जीवन के स्वाभाविक चित्र हैं। ये चित्र बड़े मनमोहक हैं। आगे इस विषय में कुछ उदाहरण दिए जाते हैं। ध्यान रखना चाहिए कि राजस्थान का वर्तमान जीवन भी तत्कालीन समाज के अधिकांश उपलक्षणो को धारण किए हुए है—

आयहिं जम्महि अन्नहिं वि गोरि सु दिज्जहि कन्तु
गय मत्तह मत्तहं चत्तङ्कुसहं जो अब्भिडहि हसन्तु ।—हे. चं.

( हे गौरी, मुझे इस जन्म मे और अन्य मे भी ऐसा पति दीजिए, जो त्यलाङ्कुश मत्त गजों से हँसता हुआ आ भिड़े। )

इस साहित्य-सामग्री मे योद्धा-जीवन के अनेक ज्वलत चित्र हैं। कुमारी यथार्थ वीर की पत्नी बनने के लिए कामना करती है। इसी प्रकार वीर-वधू के भी अनेक उद्गार हैं। रणक्षेत्र मे योद्धा जो दृश्य उपस्थित करते थे उनके भी वास्तविक चित्र इन दोहो मे कई स्थानो पर हैं। वीर पुरुष अपने स्वामी के लिए प्राण-विसर्जन करना परम धर्म समझते थे। इसी प्रकार मनस्विता, तेजस्विता, उदारता आदि गुणो से सम्पन्न दिव्य व्यक्तित्व भी इन दोहों में अनेकश प्रकट हुआ है। परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि समस्त राजस्थानी साहित्य का प्रधान स्वर यही है जो इन दोहो में प्रमुख रूप से गूंज रहा है। राजस्थानी कवियो ने इसी विचार-परम्परा को अनेक प्रकार से विस्तार देकर अपनी वाणी को धन्य किया है। ऊपर दिए गए दोहे मे गौरी की पूजा का प्रसग है। होलिका-दहन के दूसरे दिन से राजस्थानी महिलाएँ सोलह दिन तक यह पर्व बड़े ही उत्साह तथा चाव से मनाती हैं। इन दिनों में समस्त राजस्थान 'गणगोर' के गीतों से गूंजने लगता है।

२ आभरण - किरण - दिप्पत देह
अहरोकिय सुरवहू रूप रेह
घण - कुंकुम - कद्दम पर - दुवारि
खुप्पन - चलण नच्चति नारि ।—सो. प्र.

( आभूषणो की किरणें जिनकी देह पर दिप्यमान हैं, जिन्होने सुर-वधुओ के रूप को भी नीचा कर दिया है और जिनके पैर दरवाजे पर गहरे कुंकुम के कीचड़ मे फिसल रहे हैं, ऐसी नारियां नाच रही हैं। )

इस पद्य में विवाह के बधावे का चित्रोपम वर्णन है। राजस्थान में प्रत्येक मांगलिक कार्य के साथ बधावे गीत अनिवार्य रूप से गाए जाते हैं और ऐसे गीतों की संख्या भी बडी है। इनमें सुख, समृद्धि, सौहार्द एव उल्लास का अनुपम वर्णन रहता है। ऊपर दिए गए पद्य का आनन्दोल्लास भी असाधारण है। साथ ही इसमें 'घण कुंकुम कद्दम घर दुवारि' की भी चर्चा है। श्रीकृष्ण की बरात के द्वारिका लौटने का वर्णन महाकवि पृथ्वीराज राठौड़ ने अपने 'वेलि' काव्य में इस प्रकार किया है—

बधाउम्रां गृहे गृहे पुरवासी
दळिद्र तणौ दीधौ दळिद्र
ऊछव हुआ अखित उछळिया
हरी द्रोब केसर हळिद्र।—१४२

राजस्थान में अब भी विवाह आदि आनन्दोत्सवों पर केशर, रंग अथवा गुलाल आदि डालने की प्राचीन प्रथा चली आ रही है। यहा 'गुलाल उडणो' (अथवा उछळणो) मुहावरे का अभिप्राय ही आनद मनाना है।

३. खग्ग विसाहिउ जहिं लहहुं पिय तहि देसहिं जाहुं
रणदुब्भिक्खे भग्गाइ विणु जुज्झें न वलाहुं।—हे. चं

( हे प्रिय, जहा खड्ग चला कर जीविका निर्वाह हो, उस देश को चलें। हम रण-दुर्भिक्ष के कारण भाग कर आए हुए हैं, अत बिना युद्ध वापिस लौट कर नही जायेंगे। )

यह दोहा एक वीरांगना की अपने वीर पति के प्रति उक्ति है जो राजस्थान के अति प्राचीन आयुधजीवी अर्जुनायन गण तथा यौधेय गण का स्मरण करवा देती है। यौधेय गण के सिक्को पर एक ओर बल्लमधारी पुरुष और दूसरी तरफ शस्त्रधारिणी स्त्री की आकृति उभरी हुई मिलती है, जो इस गण की युद्ध-प्रवृत्ति की द्योतक है। दोहे की दूसरी पक्ति से राजस्थानी जन-जीवन की वह स्थिति लक्षित होती है जब दुर्भिक्ष के समय यहा के लोग अपना स्थान छोड कर अन्यत्र चले जाते हैं और फिर सुकाल होने पर वही वापिस लौट आते हैं।

४. सिरि जरखण्डी लोग्रडी गलि मणिग्रडा न वीस
तो वि गोट्ठडा कराविम्रा, मुद्दए उट्ठवईस।

( सिर पर तो फटी-पुरानी लोवडा है और गले मे बीस मनके भी नही, फिर भी उस मुग्धा ने गोठ के युवकों से उठ-बैठ करवा दिए। )

इस दोहे में गांव के जीवन का चित्र उपस्थित किया है जिसके दो शब्द 'लोग्रडी' और 'गोद्दुडा' विशेष रूप से अब भी चालू हैं। लोवड़ी (लोमपट्टी) ऊनी चादर है जो यहां के गांवो की स्त्रियां ओढ़ती हैं। इसी प्रकार गोठ, गोवाड एव गोहर आदि स्थान हैं। 'गोठ' शब्द का विकसित अर्थ 'प्रीतिभोज' भी चल पड़ा है।

ऊपर राजस्थानी आदिकालीन लोक साहित्य के कुछ चुने हुए नमूनों पर ही चर्चा की जा सकी है। यह सामग्री अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है, अतः इसका विस्तृत अध्ययन किए जाने की नितान्त आवश्यकता है। इससे बहुत अधिक नई जानकारी प्रकाश मे आएगी, ऐसी आशा है।

# आदिकालीन राजस्थानी वेलि-साहित्य

प्रो० नरेन्द्र भानावत

वाङ्मय को उद्यान मान कर ग्रंथो को—चाहे वे व्याकरण, वेदान्त, दर्शन, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, वैद्यक-अलकार, कोप, इतिहास, काव्य, नीति आदि किसी भी विषय से सम्बन्ध रखने वाले हों—वृक्ष तथा वृक्षागवाची नाम से पुकारने की प्राचीन परिपाटी रही है। 'वल्लो', 'वल्लरी' तथा 'वेलि' सज्ञक रचनाएँ भी इसी प्रकार की हैं। कुछ उपनिपदों मे अध्यायो या अध्यायों के विभागों का 'वल्ली' नाम मिलता है। कठोपनिपद् मे दो अध्याय और छह वल्लियां हैं। तैत्तिरीय उपनिपद् मे तीन (सात से नौ) प्रपाठक हैं जिन्हे क्रमश 'शिक्षा-वल्ली', 'ब्रह्मानंदवल्ली' और 'भृगुवल्ली' कहा गया है। प्रथम शिक्षावल्ली में ओकारमाहात्म्य के साथ साथ धार्मिक विधानो का वर्णन, द्वितीय वल्ली में ब्रह्मतत्व का विवेचन तथा तृतीय वल्ली में वरुण द्वारा अपने पुत्र को उपदेश देना वर्णित है।[1] आगे चल कर सस्कृत, अपभ्र श, राजस्थानी, गुजराती तथा व्रजभाषा मे वल्लीसज्ञक कई रचनाएँ लिखी गईं।

**वेलि-नाम—**

काव्य-विशेष के नामकरण मे कई प्रवृत्तिया काम करती हैं। कभी वर्ण्य-विषय, कभी छन्द, कभी शैली, कभी चरित्र, कभी घटना, कभी स्थान और कभी केवल मात्र आकर्पण-वृत्ति से प्रेरित होकर कवि लोग अपनी रचनाओं को विविध सज्ञाओ से अभिहित करते हैं।[2] 'वेलि' नाम भी उनमे से एक है। इस

---

[1] सस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला, पृ० १४०-१४२।

[2] श्री अगरचन्द नाहटा ने 'प्राचीन भाषा काव्यों की विविध संज्ञाएँ' शीर्षक निबन्ध मे ११५ काव्य-सज्ञाओ का परिचय दिया है। देखो—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५८, अक ४, पृ० ४१७-४३६।

वेलि-नाम-प्रकरण को लेकर विद्वानों में कई मत प्रचलित हैं।[1] उनमें से मुख्य इस प्रकार हैं—

१ वेलियो छन्द के आधार पर 'वेलि' नामकरण की कल्पना करने वाला वर्ग
२ 'वेलि' के आधार पर वेलियो छन्द की सभावना प्रकट करने वाला वर्ग
३ 'वेलि' को विवाह-मगल-विलास के अर्थ मे ग्रहण करने वाला वर्ग
४ 'वेलि-रूपक' की प्रतिपादना करने वाला वर्ग
५ 'वेलि' को केवल मात्र वीर-वीरागनाओ के चरित्राख्यान तक ही सीमित रखने वाला वर्ग
६ 'वेलि' को यश और कीर्ति-काव्य के रूप मे ग्रहण करने वाला वर्ग
७ 'वेलि' को वल्ली, गुच्छक, स्तवक आदि अध्यायो से स्वतन्त्र-काव्य-विधा के रूप मे विकसित मानने वाला वर्ग।

यहा प्रत्येक वर्ग की आलोचना-प्रत्यालोचना करना अप्रासगिक होगा। ऐसा समझ कर समग्र रूप से वेलि साहित्य की सामान्य-विशेषताओं का उल्लेख भर किया जा रहा है।

१ वेलि-काव्य की परम्परा काफी पुरानी और प्रसिद्ध रही है। यही कारण है कि कवि लोगो ने रचनाओ के प्रारभ या अन्त मे वरणी वेलि भत' आदि कह कर काव्य-रूप की ओर सकेत कर दिया है।

२ वेलि काव्य का वर्ण्य-विषय प्रमुख रूप से देव तुल्य श्रद्धेय पुरुषो का गुणगान करना रहा है। ये पुरुष राजा, महाराजा, तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, सती, धर्माचार्य, लोक देवता आदि रहे हैं। जैन-वेलियो मे जहा उपदेश दिया गया है वहां भी प्रारभ तथा अन्त मे तीर्थंकर-धर्माचार्यादि का प्रायः स्तवन कर लिया गया है।

३ गेयता इस काव्य का प्रमुख गुण है। जैन साधु इसकी रचना कर बहुधा गाते रहे हैं। पाठ (पारायण) करने की परम्परा भी रही है। पृथ्वीराज ने अपनी वेलि मे पाठ-विधि तक दी है।[2] आई पथ मे लौकिक वेलिया अब भी गाई जाती हैं।

---

[1]देखो लेखक का 'वेलि का नामकरण तथा वेलि साहित्य का विकास' लेख: 'राजस्थान-भारती' (पृथ्वीराज विशेषाक) पृ० ५१-६७।

[2]महि सुइ खट मास, प्रात जलि मजे
अप-सपरस-हरू, जित-इद्री
आमइ वेलि पढता नित-प्रति
श्री वछित वर वछित श्री (२८०)

४ वेलि काव्य-स्तोत्रों का ही एक रूप प्रतीत होता है जिसमे दिव्य पुरुषों के साथ-साथ लौकिक पुरुषो का वीर-व्यक्तित्व भी समा गया है। रचना के प्रारम्भ या अन्त मे वेलिकारो ने वेलि माहात्म्य बतलाया है। ऐतिहासिक चारणी वेलियाँ प्रशस्ति बन कर रह गई हैं। उनमे कही भी अन्तःसाक्ष्य के रूप में 'वेलि' नाम नही आया है। वहाँ 'वेलियो' छन्द मे रचित होने के कारण ही उन्हें 'वेलि' नाम दे दिया गया प्रतीत होता है।

५ वेलि काव्य विविध छन्दो में लिखा गया है। जैन वेलियो में ढालो की प्रधानता है, अन्य मात्रिक छन्द भी अपनाये गये हैं, चारणी वेलियाँ छोटे साणोर के भेद वेलियो, सोहणो, खुडद साणोर मे ही लिखी गई हैं।

६ वेलि-काव्य में दो प्रकार की भाषा के दर्शन होते हैं। एक साहित्यिक डिंगल अलकारों से लदी हुई और दूसरी बोलचाल की सरल राजस्थानी अलकारविहीन पर मधुर और सरस। पहली प्रकार की भाषा चारणी वेलियों का प्रतिनिधित्व करती है, दूसरे प्रकार की भाषा जैन तथा लौकिक वेलियो का।

७ प्रबन्धात्मकता वेलि काव्य की एक विशेषता है। गीत-शैली होते हुए भी प्रबन्ध-धारा की रक्षा हुई है। मुक्तक के शरीर में भी प्रबन्ध की आत्मा है।

८ प्रारम्भ में मगलाचरण और अन्त मे स्वस्ति वचन वेलि काव्य की एक सामान्य विशेषता है।

## आदिकालीन राजस्थानी वेलि साहित्य

बीकानेर के राठौड़ कवि पृथ्वीराज की 'क्रिसन रुक्मणी री वेलि' इतनी लोकप्रिय रही कि आलोचक पृथ्वीराज को ही वेलि-परम्परा का प्रवर्त्तक मानने लग गये[1]। पर यह कथन साधार नही है। पृथ्वीराज से पूर्व कई चारणी तथा जैन वेलियाँ लिखी गई। यो संस्कृत साहित्य से वेलि-परम्परा का सीधा सम्बन्ध जोडा जा सकता है। साहित्यिक दृष्टि से सर्वप्रथम रचना रोड़ा कृत 'राउल वेल' है जिसका समय ११ वी शती के लगभग का है। १५ वी शती मे कतिपय लौकिक वेलियों का पता चलता है। सोलहवी शती में आकर वेलि

---

[1]पृथ्वीराज का यह ग्रंथ (वेलि) एक परम्परा की स्थापना करता है जिसे राजस्थान तथा ब्रजमण्डल के भक्त कवियों ने आगे तक निबाहने का प्रयत्न किया है। पृथ्वीराज के द्वारा लगाई हुई इस वेलि को मैं भक्त कवि नित्य सींचते रहे।

—डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित, स्वसपादित वेलि, भूमिका पृ० ४७.

काव्य की सर्जना व्यवस्थित रूप से होने लगती है। १७ वी और १८ वी शती तो वेलि-काव्य के लिए स्वर्ण-युग है। यहां हम १६ वी शती तक की 'वेलि' संज्ञक रचनाओं का सामान्य परिचय प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

स्थूल रूप से आलोच्य-काल की रचनाओं के दो वर्ग हैं—

(१) लौकिक वेलि साहित्य

(२) जैन वेलि साहित्य

चारणी वेलि साहित्य का प्रणयन १७ वीं शती से होने लगता है। अत: उसके बारे मे यहाँ विचार नही किया गया है।

लौकिक वेलि साहित्य के अन्तर्गत आलोच्य काल की निम्नलिखित वेलियाँ आती हैं—

| रचना | रचनाकार | रचना-काल |
|---|---|---|
| १ रामदेवजी री वेल | संत हरजी भाटी | १५ वीं शती |
| २ रूपादे री वेल | सत हरजी भाटी | १५ वी शती |
| ३ रत्नादे री वेल | तेजो | १५ वी शती के आसपास |
| ४ तोलादे री वेल | अज्ञात | १५ वी शती के आसपास |
| ५ आईमाता री वेल | सत सहदेव | सं० १५७६ |

जैन वेलि साहित्य के अन्तर्गत आलोच्य काल की निम्नलिखित वेलियाँ आती हैं—

| | | |
|---|---|---|
| ६ चिहुगति वेलि | वाछा | सं० १५२० से पूर्व |
| ७ जम्बूस्वामी वेल | सीहा | सं० १५३५ से पूर्व |
| ८ रहनेमि वेल | सीहा | सं० १५३५ से पूर्व |
| ९ प्रभव जम्बूस्वामी वेलि | — | स० १५४८ से पूर्व |
| १० कर्मचूर व्रत कथा वेलि | सकलकीति | १६ वी शती का प्रारंभ |
| ११ पचेन्द्री वेलि | ठकुरसी | सं० १५५० |
| १२ नेमिश्वर की वेलि | ठकुरसी | स० १५५० के आसपास |
| १३ गरभ वेलि | लावण्यसमय | स० १५६२-८९ के लगभग |
| १४ क्रोध वेलि | मल्लिदास | १६ वीं शती |
| १५ वेलि | छीहल | सं० १५७५-८४ के आसपास |
| १६ भरत वेलि | देवानदि | १६ वीं शती |
| १७ वल्कल चीर ऋषि वेलि | कनक | १६ वी शती |
| १८ नेमि परमानद वेलि | जयवल्लभ | १६ वी शती |

१—राउल वेल[1]:—जैसा कि हम लिख चुके हैं रोड़ा कृत 'राउल वेल' वेल नाम की सर्व प्रथम रचना है। यह एक शिलांकित भाषा काव्य है जो बम्बई के प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम मे विद्यमान है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार इसका समय ११ वी शती है। इसका रचयिता रोडो (रोडे राउलवेल वखाणी) जो चरित्र-नायक का बंदीजन प्रतीत होता है। प्राप्य ४६ पंक्तियों मे ६ नायिकाओं का नखशिख-वर्णन किया गया है जो सिर से प्रारंभ होकर पैरो तक चलता है। ये नायिकाएँ नायक की नव-विवाहित पत्नियाँ या रखेलियाँ है। वर्णन आलंकारिक है। उसके पढने से कवि की सरसता, भावुकता और अपूर्व कल्पना शक्ति का पता लगता है। भाषा-शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण कृति है।

२—रामदेवजी री वेल[2]:—इसके रचयिता संत हरजी भाटी पन्द्रहवी शती के भक्त कवियो मे से थे। ये जोधपुर जिले के ओसियां नामक गाव से तीन कोस दूर स्थित 'पंडितजी की ढाणी' के निवासी थे। ये भाटी कुल के राजपूत उगमसिंहजी के पुत्र थे। रामदेवजी के भक्तों में इनका अन्यतम स्थान है। साधु के वेष मे स्वय रामदेवजी ने इन्हे दर्शन दिये थे। प्रस्तुत वेल में रामदेवजी (म० १४६१-१५१५) के चमत्कारिक जीवन प्रसगों का वर्णन किया गया है। राक्षसराज भैरववध का विस्तारपूर्वक वर्णन कर कवि ने रामदेवजी के अलौकिक वीर व्यक्तित्व की व्यंजना की है। इस वेलि में कुल २४ पद्य हैं।

३—रूपांदे री वेल[3]:—इसके रचयिता भी वे ही सत हरजी भाटी हैं जिनका परिचय ऊपर दिया जा चुका है। प्रस्तुत वेल मे मारवाड़ नरेश राव मल्लिनाथजी (मृत्यु स० १४५६) और उनकी रानी रूपादे के जीवन-प्रसंगों की मार्मिक विवेचना की गई है। कथा ऐतिहासिक है पर उसे आश्चर्यजनक

---

[1] प्रकाशित (क) भारतीय विद्या (भाग १७, अंक ३-४, पृ० १३०-१४६)
—डॉ० भायाणी।
(ख) हिन्दी अनुशीलन (वर्ष १३, अंक १-२, पृ० २१-३८)
—डॉ० माताप्रसाद गुप्त।

[2] वरदा (वर्ष १, अंक १, पृ० ४३-४५) शिवसिंह मल्लाराम चोयल

[3] (क) मरुभारती, वर्ष २, अंक २, पृ० ७६-८१।
(ख) शोध पत्रिका, भाग ६, अंक २, पृ० ३७-४२।

तत्वों और कथानक-रूढियों से रंग दिया गया है। रूपांदे धारू मेघवाल और उगमसी भाटी द्वारा सत-मंडली मे आमन्त्रित की जाती है। उसका भक्तिनिष्ठ जीवन भगवान के चरणो मे इतना तल्लीन हो जाता है कि उसके सम्पूर्ण विरोध वरदान बन जाते हैं और स्वय मल्लिनाथ भी उसके मत मे दीक्षित होकर अपने को धन्य मानते हैं।

**४—रत्नादे री वेल**[1]:—इसका रचयिता कोई तेजो नामक कवि है—'तेजो (तो) गावे वाई थारो सोलमों'। इसमे जनश्रुति के आधार पर कुलचन्द की रानी रत्नादे की साधुओं के प्रति भक्ति-भावना का वर्णन किया गया है। पड़ौसिन की शिकायत पर रानी रत्नादे अपने दोनों राजकुमारों आम्बू-जाम्बू सहित मास द्वारा निर्वासित करदी जाती है। जगल में रानी की भगवद्-भक्ति से प्रसन्न होकर देवतादि प्रकट होते हैं। जागरण-कलश की स्थापना की जाती है और अन्ततोगत्वा रानी का समस्त परिवार आ उपस्थित होता है। आई-पथी लोगों मे इस वेल का बड़ा प्रचार है।

**५—तोलादे री वेल**[2] —इसके रचयिता का पता नही है पर यह वेल जागरण के अवसर पर समवेत स्वरों में न जाने कब से गाई जाती रही है। इसमे तोळादे और जैसल की कथा वर्णित है। दोनों पात्र ऐतिहासिक हैं। जैसल रामदेवजी का समकालीन रहा है। वह तोळादे का सम्पर्क पाकर डाकू से भक्त बन जाता है। आश्चर्य तत्वो और कथानक रूढियो का प्रयोग कर कवि ने कथा को विस्तार दिया है।

**६—आईमाता री वेल**[3].—इसके रचयिता संत सहदेव १६ वी शती के भक्त कवियों में से थे। ये आईपथी साधु थे। जाति के ब्राह्मण कहे जाते हैं। इसकी रचना उन्होने सवत् १५७६ की भाद्रपद द्वितीया को की। इसमें आई-माता की जीवन-गाथा वर्णित है। वि० स० १४७२ के लगभग बीका डाभी नामक राजपूत के घर आईजी (जीजी) का जन्म हुआ। यवन बादशाह महमूद खिलजी आईजी पर मुग्ध होकर उनके साथ विवाह करना चाहता था पर चँवरी में ही आईजी के विकराल रूप को देख कर वह उनका सेवक बन गया।

---

[1] श्री शिवसिंह चोयल के सौजन्य से प्राप्त

[2] श्री शिवसिंह चोयल के सौजन्य से प्राप्त

[3] मरुभारती : वर्ष ३, अक १, पृ० ६८-७०.

अंबापुर से नाडलाई, डायलाणा होती हुई यह देवी बिलाड़ा मे आकर प्रतिष्ठित हुई। राणा रायमल को मेंवाड की गद्दी पर बिठलाने मे तथा जांणाजी के पुत्र माधाजी की खोज में चमत्कारिता का प्रदर्शन कर यह सब की पूज्य बन गई। इन्ही के नाम पर आई पथ चल पड़ा।

७—चिहुंगति बेलिः[1]—इसके रचयिता बच्छ या वाछो सोलहवीं शती के प्रारभ मे विद्यमान थे। ये वडतपागच्छ ज्ञानसागर सूरि के शिष्य श्रावक थे। सवत १५२० के पूर्व यह बेलि रची गई थी। इसमें चार गतियो—नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव—का वर्णन कर ससार के प्राणियों को यह सदेश दिया है कि चौरासी लाख जीव-योनियों मे भ्रमण करने के बाद यह मनुष्य-भव मिला है अतः जिन-भगवान के पथ पर चल कर आत्म-कल्याण करना चाहिये। इसमें नरक गति की त्रिविध (परमाधामी देवप्रदत्त, क्षेत्र कृत तथा परस्परजनित) वेदनाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन होने के कारण इसका नाम *'नरगवेदनावेलि'* भी मिलता है। इसकी कुल छन्द सख्या १३५ तथा १४२ है।

*८—जम्बूस्वामी बेलि[2]:—इसके रचयिता सीहा (सिंघदास) १६ वी शती* के प्रारभ के कवियो में से थे। संवत १५३५ इसका लिपिकाल होने से यह इससे पूर्व की रचना है। इस बेलि का सम्बन्ध पांचवे गणधर सुधर्मा स्वामी के बाद भगवान महावीर के तीसरे पाट पर विराजने वाले जम्बू स्वामी से है। जम्बू स्वामी ८ स्त्रियो और ९९ करोड़ स्वर्ण-मुद्राओ की सम्पत्ति छोड़ कर दीक्षित हुए थे। वि. स. ४०६ वर्ष पहले ये मोक्ष पधारे। इनके बाद कोई केवली उत्पन्न नही हुआ, अत ये चरम केवली कहलाते है। १८ छन्दों की इस छोटी सी रचना मे कवि ने सवादात्मक शैली मे जम्बूकुमार और उनकी आठ स्त्रियों—समुद्रश्री, पद्मसेना, पद्मश्री, कनकसेना, नलसेना, कनकवती, कनकश्री, जयश्री—के उत्तर-प्रत्युत्तर को काव्यबद्ध किया है। जब विवाहोपरान्त जम्बूकुमार दीक्षा लेने के लिये स्त्रियों से विदा लेते है तो एक-एक स्त्री एक-एक कथा सुना कर उन्हें सयम से विरत करने का उपक्रम करती है और प्रत्येक का एक-एक कथा द्वारा प्रतिवाद करते हुए जम्बूकुमार अपने सकल्प मे विजयी होकर आत्म-कल्याण करते है।

---

[1]श्री अभय जैन ग्रथालय, बीकानेर की हस्तलिखित प्रति से

[2]प्रकाशित—जैन युग, पुस्तक ५, अक ११-१२, पृ० ४७३-७४

९—रहनेमि वेल[1]:—इसके रचयिता भी सीहा (सिंघदास) है। यह संवत १५३५ से पूर्व की रचित है। इसका सम्बन्ध जैनियों के २२ वें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ के छोटे भाई रहनेमि (रथनेमि) तथा मथुरा के राजा उग्रसेन की पुत्री और नेमिनाथ की वाग्दत्ता राजमती से है। १७ छन्दों में यहां उस प्रसंग का वर्णन है जब नेमिकुमार पशुओं के करुण-क्रन्दन से विरक्त होकर दीक्षित हो जाते हैं और राजमती साध्वी बन कर भगवान को वन्दना करने के लिए जाती है। अचानक आंधी और वर्षा के होने से राजमती एक गुफा मे अपने वस्त्र सुखाती है। संयोग से उसी गुफा मे ध्यानस्थ मुनि रथनेमि राजमती के नग्न-सौन्दर्य को देख कर काम-पीडित हो उससे प्रेम-याचना करते हैं और राजमती उद्बोधन देकर उन्हें संयम मार्ग पर अविचल रखती है।

१०—प्रभव जम्बूस्वामि वेलि[2]:—इसके रचयिता का पता नही है। लिपिकाल संवत १५४८ होने से इसकी रचना इससे पूर्व निश्चित है। इसका वर्ण्य-विषय वही है जो सीहाकृत जम्बूस्वामी वेलि का है।

११—कर्मचूर व्रत कथा वेलि[3]:—इसके रचयिता भट्टारक सकलकीर्ति १५ वी शती के अन्त के प्रकाण्ड पंडित और साहित्य-सेवियों मे से थे। ये भट्टारक पद्मनंदि के शिष्य थे। इस वेलि में आठ कर्मो—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—को चूर करने के लिए व्रत-विधान बतलाया गया है। कौशाम्बी नगरी में कर्मषेण ने व्रत द्वारा अपना आत्म-कल्याण किया था। जो इस व्रत की आराधना करता है वह चौरासी लाख जीव-योनियों को पार कर अजर-अमर पद प्राप्त करता है।

१२—पचेन्द्री-वेलि[4]:—इसके रचयिता ठकुरसी १६ वी शती के कवियों मे से थे। इनके पिता का नाम घेल्ह था जो स्वय कविता किया करते थे। ये दिगम्बर धर्मावलम्बी थे। इसकी रचना संवत १५५० कातिक सुद १३ को की गई (कुछ प्रतियो मे सवत पनरं से पिचासे तेरसि सुद कातिग मासे पाठ भी

---

[1]प्रकाशित— जैन युग, पुस्तक ५, अक ११-१२, पृ० ४७४–७५

[2]सेठ लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर अहमदाबाद के नगर सेठ कस्तूरभाई मणिभाई के संग्रहसे : ह. प्र. नं. १०८३.

[3]दिगम्बर जैन मंदिर (पाटोदी) जयपुर : ह. प्र. नं. ११

[4]राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर : ह. प्र. न ३९४०

मिलता है) इसमें पांच इन्द्रियों—स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय—का स्वरूप एव स्वभाव निरूपित किया गया है। इन्द्रियों के काम-गुणों—शब्द (श्रोत्रेन्द्रिय, रूप (चक्षुरिन्द्रिय), गन्ध (घ्राणेन्द्रिय), रस (रसनेन्द्रिय) और स्पर्श (स्पर्शेन्द्रिय)—के वशीभूत होकर मन सासारिक भोगो मे उलझ जाता है अतः कवि का उपदेश है कि मन को इन्द्रियाधीन न कर इन्द्रियों को मन के अधीन करना चाहिये।

१३—नेमिश्वर की वेलि[1]:—इसके रचयिता वे ही ठकुरसी हैं जिनका परिचय ऊपर दिया जा चुका है। प्रस्तुत वेलि का सम्बन्ध नेमिनाथ और राजमती से है। नेमिनाथ २२ वें तीर्थंकर तथा शौर्यपुर के महाराजा समुद्रविजय के पुत्र थे। ये हरिवश के काश्यप गोत्रीय क्षत्रिय थे। कृष्ण इनके चचेरे भाई थे। इनका वाग्दान मथुरा के राजा उग्रसेन की पुत्री राजमती से हुआ था। पिंजडों मे वन्दी पशु-पक्षियो की करुण पुकार सुन कर इन्होने अपनी वरात को वापिस लौटा कर सयम धारण कर लिया था।

१४—गरभ वेलि[2]: —इसके रचयिता लावण्यसमय १६ वी शती के मध्य के समर्थ कवियों मे से थे। ये तपागच्छ के समयरत्न के शिष्य थे। इस वेलि मे ११४ छन्द हैं। इसमें गर्भ की पीडाओ का वर्णन कर माता की महिमा गाई गई है। कवि ने जो वर्णन किया है वह आगमानुमोदित—तंदुल वयालीय पइण्ण—है। गर्भगत जीव के क्रमिक विकास और जन्मोपरान्त उसकी विविध स्थितियो का मार्मिक वर्णन कवि की भावुकता और अनुभवशीलता का परिचायक है।

१५—क्रोध वेलि[3]:—इसके रचयिता मल्लिदास हैं। ये पं० माल्हा के पुत्र थे। इनका निवास-स्थान जयपुर के पास चम्पावती—चाटसू रहा है। इस वेलि की रचना सं १५८८ वैशाख की चौथ रविवार को की गई। इसमें क्रोध, मान, माया और लोभ का वर्णन किया गया है। ये चारो कषाय कहलाते हैं। इनके उपशमन के लिए आगमों में क्रमशः क्षमा, विनय, सुविचार और सन्तोष की व्यवस्था दी गई है।

---

[1] भट्टारक भंडार, अजमेर : ह. प्र. नं. ५१६

[2] बड़ा उपासरा : अभयसिंह भंडार, बीकानेर : ह. प्र. नं. २६

[3] श्री परमानंद जैन के सौजन्य से प्राप्त

**१६—छीहल कृत वेलि**[1]:—इसके रचयिता छीहल १६ वीं शती के उत्तरार्द्ध के कवियों में से थे। डॉ० मोतीलाल मेनारिया तथा स्व० देसाईजी ने इन्हें जैनेतर कवियों में रखा है पर ये जैन कवि थे। प्रस्तुत वेलि ४ पदो की रचना है जो सं० १५७५ और १५८४ के आसपास रची गई होगी। इसमें मन को सासारिक विषय-वासना के वन मे न भटका कर जिनेश्वर भगवान के ध्यान में लगाने का उपदेश दिया गया है।

**१७—भरत-वेलि**[2]:—इसके रचयिता देवानंदि हैं। ये दिगम्बर हैं। यह वेलि भरत से सम्बन्ध रखती है। भरत बारह चक्रवर्तियों में से प्रथम चक्रवर्ती माने जाते हैं। ये भगवान ऋषभदेव के पुत्र और बाहुबली के बड़े भाई थे। दर्पण में अपना श्वेत केश देख कर इन्हें ससार से विरक्ति हो गई थी और 'भाव ल्यंग ग्रही वेस' से ही इनका आत्म-कल्याण हो गया था।

**१८—वल्कल चीर ऋषि वेलि**[3]:—इसके रचयिता कवि कनक सोलहवी शती के कवियो में से थे। ये खरतरगच्छीय जिनमाणिक्य के शिष्य थे। ७५ छन्दों की इस वेलि का सम्बन्ध राजा सोमचन्द और उसकी रानी धारिणी के पुत्र वल्कलचीरी से है।

वल्कलचीरी का जन्म जंगल मे हुआ था। उसका बडा भाई राजर्षि प्रसन्नचन्द्र था। वर्षों बाद दोनो का मिलाप होता है। दोनों सयम-पथ पर आरूढ होकर आत्मा का कल्याण करते हैं।

**१६—नेमि परमानद वेलि**[4]:—इसके रचयिता जयवल्लभ सोलहवी शती के कवियों मे से थे। ये साध पूर्णिमागच्छ माणिक्यसुन्दर सूरि के शिष्य थे। ४८ छन्दो की इस वेलि का वर्ण्य-विषय वही है जो ठकुरसी कृत 'नेमिश्वर की वेलि' का है।

यहा हमने जिन वेलियों का परिचय प्रस्तुत किया है उनसे आदिकालीन राजस्थानी काव्य-धारा की एक विशेष धारा का पता लगता है। आदिकाल और मध्यकाल के बीच अपना स्वरूप ग्रहण कर यह वेलि-काव्य की धारा आगे चल कर अधिक वेगवान बनती है।

---

[1] शास्त्र भंडार मंदिर गोधा, जयपुर : ह. प्र. नं. ८१
[2] श्री दिगम्बर जैन मदिर बड़ा तेरह पथियो का, जयपुर : ह. प्र. नं २२३
[3] सेठ लाल भाई दलपत भाई भारतीय सस्कृति विद्यामदिर, अहमदाबाद के नगरसेठ कस्तूर भाई मणि भाई का सग्रह : ह. प्र. नं. १३४६
[4] वही : ह. प्र. न. १०८५

# जैन प्रबंध-ग्रन्थों में उद्धृत प्राचीन भाषा-पद्य

श्री अगरचन्द नाहटा

लोक भाषा के प्रति जैन विद्वानों का सदा से आदर-भाव रहा है, इसीलिए प्राकृत, अपभ्रंश और उससे निकली हुई अन्य प्रान्तीय भाषाओं मे जैन साहित्य का सृजन निरन्तर होता रहा। इसलिए प्रान्तीय भाषाओं के विकास का ठीक से अध्ययन करने के लिए जैन साहित्य का अध्ययन बहुत ही उपयोगी और आवश्यक है। जैन विद्वानो ने स्वय तो विविध विषयक विशाल साहित्य की रचना की ही है, उनकी एक दूसरी विशेषता भी बहुत ही उल्लेखनीय है। उन्होने बड़े ही उदार-भाव से जैनेतर साहित्य का सरक्षण किया। सैकडो फुटकर रचनाएँ और कई जैनेतर उपकाव्य तो उन्ही की कृपा से अब तक बच पाए है। जैनेतर सग्रहालयो में जिन रचनाओ की एक भी प्रति नही मिलती, उनकी अनेको प्रतिया जैन-भडारो मे मिलती हैं। इसके अतिरिक्त अनेको जैन-ग्रथो में जैनेतर कवियों के पद्य उद्धृत मिलते हैं। लोक साहित्य का जितना अधिक उपयोग जैन-रचनाओ मे हुआ है, उतना अन्यत्र कही भी नही मिलेगा। सैकडो लोक-कथाओ के सम्बन्ध में जैन कवियो के काव्य उपलब्ध हैं। अनेको ग्रथो मे प्रसगवश लोक-कथाएँ सग्रहीत मिलती हैं। हजारो लोक-गीतो के देशियो की तर्ज या चाल मे जैन ढालें, स्तवन सज्झाय, गीत आदि रचे गये। उनके प्रारभ मे उन योग्यताओं की पक्ति या पद्य उल्लिखित मिलते है।

१३वीं शताब्दी से राजस्थानी, गुजराती, हिन्दी आदि प्रान्तीय भाषाओं मे स्वतन्त्र साहित्य रचा जाने लगा। ऐतिहासिक सामग्री भी इसी समय मे अधिक मिलने लगती है। जैन विद्वानों ने इस समय से अनेक ऐतिहासिक प्रवादो और घटनाओं का सग्रह अपने प्रबध सग्रह ग्रथो मे करना प्रारम्भ किया। १६वीं शताब्दी तक यह परम्परा बराबर चालू रही। अत इस समय से बीच के कई

महत्वपूर्ण ऐतिहासिक प्रबन्ध व काव्य प्राप्त हैं; जिनमें प्राकृत, संस्कृत, प्रासंगिक पद्यो के अतिरिक्त अपभ्रंश और राजस्थानी, गुजराती के सैंकडो पद्य उद्धृत मिलते हैं। सं० १२६० मे नागेन्द्रगच्छीय उदयप्रभसूरि के शिष्य जिनभद्र ने मत्रीश्वर वस्तुपाल के पुत्र मंत्रीश्वर जैतसिंह के पठनार्थ 'प्रबन्धावली' नामक ग्रन्थ की रचना की। वह पूर्ण रूप से तो अभी प्राप्त नही है, पर उसके कुछ प्रबध मुनि जिनविजयजी संपादित, पुरातन प्रबन्ध सग्रह में प्रकाशित हुए हैं। उसके बाद सं० १३३४ मे प्रभाचन्द्रसूरि ने प्रभावक चरित नामक विशिष्ट जैनाचार्यो सम्बन्धी २२ प्रबन्धो वाला ग्रन्थ बनाया। तदनन्तर सं० १३६१ में मेरुतुङ्गाचार्यो ने 'प्रबन्ध चिन्तामणि' नामक बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रंथ बनाया। स० १४०५ में राजशेखरसूरि ने दिल्ली मे प्रबधकोश की रचना की। ये चारों ग्रथ सिंघी-जैन-ग्रंथमाला से मुनि जिनविजयजी द्वारा सुसंपादित हो कर प्रकाशित हो चुके हैं। पुरातन प्रबध सग्रह में कई प्रतियो का उपयोग किया गया है। इसलिए प्रबधों की संख्या सबसे अधिक है। महाराजा कुमारपाल सम्बन्धी कुछ ऐतिहासिक प्रबन्ध व चरित्र-ग्रंथों का संग्रह भी मुनिजी ने प्रकाशित किया है। उपदेश सप्तति, विक्रमचरित आदि और भी ऐसे अनेको जैन-ग्रंथ है. जिनमें प्राचीन अपभ्रंश और राजस्थानी के पद्य उद्धृत है। इन पद्यो से अपभ्रंश से राजस्थानी का विकास कैसे हुआ, इसकी महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। इसलिए यहा ऐसे पद्यों को उपरोक्त ग्रथो से सग्रहीत कर के प्रकाशित किया जा रहा है।

आचार्य हेमचद्र ने अपने सिद्ध-हेम-व्याकरण में प्राकृत के साथ अपभ्रंश का भी व्याकरण दिया है और उस प्रसंग में उस समय के प्रसिद्ध शताधिक दोहों को अपभ्रंश के उदाहरण के रूप में उन्होने उद्धृत किया है। हिन्दी के विद्वानो में इन दोहो और प्रबन्ध-चिन्तामणि व कुमारपाल प्रतिबोध में उद्धृत पद्यो के महत्व की ओर सब से पहले पडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का ध्यान गया और उन्होंने उसे ४० वर्ष पूर्व नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग २ में 'पुरानी हिन्दी' नाम से ४ लेख प्रकाशित किए। उनके महत्व के सम्बन्धी में श्री गुलेरीजी ने लिखा है कि हेमचन्द्र ने 'सस्कृत और दूसरी प्राकृतों के व्याकरण मे तो अपनी वृत्ति में उदाहरणो की तरह प्राय. वाक्य या पद ही दिए हैं, किन्तु अपभ्रश के अश में पूरी गाथाएँ, पूरे छन्द और पूरे अवतरण दिए हैं। यह हेमचन्द्र का दूसरा महत्व है। यो उसने एक बड़े भारी साहित्य के नमूने जीवित रक्खे, जो उसके ऐसा न करने से नष्ट हो जाते। यदि हेमचद्र पूरे उदाहरण न

देता तो पढ़ने वाले, जिनकी संस्कृत और प्राकृत-ग्रंथों तक तो पहुँच थी ही, किन्तु जो भाषा-साहित्य से स्वभावतः नाक चढ़ाते थे, उसके नियमों को न समझते। हेमचंद्र ने बड़ी उदारता की कि ये पूरे अवतरण दे दिए। इनमें शृंगार, वीरता, किसी रामायण का अंश, कृष्ण-कथा, किसी महाभारत का अंश, वामनावतार-कथा, हिन्दू-धर्म, जैन-धर्म और हास्य सभी के नमूने मिलते हैं। मुंज और ब्रह्म कवियों के नाम पाए जाते हैं। कैसा सुन्दर साहित्य यहाँ संग्रहीत है। कविता की दृष्टि से इतने विशाल संस्कृत और प्राकृत साहित्य में भी क्या 'भला हुआ जु मारिया (३१), जइ ससणेही तो मुइअ (५२), लोणु विलिज्जइ पाणिएण (११५), अज्जवि नाहु महुज्जि घरि (१४४), आदि के जोड़ की कविता मिल सकती है ?

पूर्वोक्त ग्रंथो के उद्धृत पद्य जो आगे दिए जा रहे हैं, उनमें काल-क्रम के अनुसार आचार्य वृद्धवादी और सिद्धसेन दिवाकर के प्रबंध में उद्धृत अपभ्रंश और प्राचीन राजस्थानी के जो पद्य हैं उन्हें सब से प्राचीन माना जा सकता है। अपभ्रंश पद्य के प्रभावकचरित्र में संस्कृत में तीन अर्थ लिखे मिलते हैं, उन्हें भी आगे दिया जा रहा है। प्रबंध-कोश और प्रबंध-चिन्तामणि आदि में जो पाठ-भेद है, वह भी टिप्पणी में दिया गया है। वृद्धवादी और सिद्धसेन गुरु-शिष्य थे। परम्परा के अनुसार सिद्धसेन विक्रमादित्य के समय में हुए हैं, पर वे विक्रमादित्य कौन थे, इसके सम्बन्ध में श्रुति-परम्परा और ऐतिहासिक विद्वानों में मतभेद है। प० सुखलालजी आदि ने सिद्धसेन का समय ५वीं शताब्दी का माना है। अतः यदि प्रबन्धों में उद्धृत पद्य वास्तव में ही उस समय के हों तो अपभ्रंश और तत्कालीन बोलचाल की सरल भाषा, इन दोनों के ये दो पद्य प्राचीनतम उदाहरण माने जा सकते हैं। पहला पद्य सिद्धसेन को वृद्धवादी ने कहा है और दूसरा पद्य वृद्धवादी ने जन-साधारण को प्रतिबोध देने के लिए कहा, इसलिए उसकी भाषा प्रथम पद की अपेक्षा बहुत सरल है। साहित्यिक भाषा और लोक-भाषा में कितना अन्तर होता है, यह इससे स्पष्ट है। परवर्ती ग्रंथो में दूसरे पद्य के समान भाव वाले कई और पद्य भी मिलते हैं, जिनमें से स० १६१२ की कवि मालदेव की लिखी हुई 'वडगच्छ गुरुवावली' में जो पद्य मिले हैं उन्हें मैंने 'गोवालियों का स्वर्ग' नामक लेख में १५ वर्ष पूर्व 'राजस्थान-भारती' में प्रकाशित किया था। ऐसे पद्यों के कहने का प्रसंग भी बड़ा रोचक है और उससे हमें एक महत्वपूर्ण तथ्य की सूचना मिलती है। सिद्धसेन संस्कृत के बड़े भारी विद्वान् थे। उन्होंने वृद्धवादी की प्रशंसा सुन कर

उनसे शास्त्रार्थ का विचार किया। एक गाव या जंगल में वृद्धवादी उन्हें मिले तो उन्होंने शास्त्रार्थ करने को कहा। वृद्धवादी ने कहा कि यहां हार-जीत का निर्णय करने वाला कौन है? इसलिए राज-सभा में चल कर शास्त्रार्थ किया जाय। पर सिद्धसेन को उतावल लगी थी। उन्होने कहा कि आसपास मे ग्वालिये खडे हैं, उन्हे ही निर्णायक मान लिया जाय। वृद्धवादी ने कहा—'अच्छा, तुम अपना पूर्व-पक्ष रक्खो।' तो उन्होने संस्कृत मे अपना मन्तव्य प्रकाशित किया जिसे बिचारे ग्रामीण ग्वालिये क्या समझते। वृद्धवादी समयज्ञ थे। उन्होने जन भाषा में ही कुछ पद्य बना कर ग्वालियो को सुनाये। इससे वे बहुत प्रभावित हुए और वृद्धवादी की प्रशसा करते हुए उनकी जीत घोषित की। अर्थात् जनसाधारण में तो उन्ही की बोली में कहे हुए उपदेश-वाक्य सफल एवं कार्यकारी होते हैं।

आगे दिए जाने वाले पद्यो में सबसे अधिक पद्य मुंज से लेकर कुमारपाल तक के है, जिनका समय ११वी से १३वी शताब्दी तक का है। चारणों के कहे हुए पद्य १२वी शताब्दी से १४वीं शताब्दी तक के हैं। इस समय के चारणी-साहित्य की उपलब्धि इन पद्यो के अतिरिक्त और कुछ भी नही होती, इसलिए इन पद्यो का प्राचीन चारण-कविता के उदाहरणरूप मे विशेष महत्व है। मुंज और मृणालवती के पद्य ११-१२वी शताब्दी के मालव और राजस्थान, गुजरात, सौराष्ट्र की भाषागत एकता के सूचक है। पृथ्वीराज रासो के जो पद्य पृथ्वीराज और जयचद प्रबध मे उद्धृत मिले हैं, उनसे पृथ्वीराज रासो परिवर्तन की मूल भाषा और उसमें हुए परवर्ती परिवर्तन की महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। १३वी शताब्दी की भाषा के सम्बन्ध मे उन पद्यों से अच्छा प्रकाश पड़ता है। आगे दिए जाने वाले अधिकाश पद्य जिन-जिन व्यक्तियों से सम्बन्धित हैं उनका समय निश्चित होने के कारण उन पद्यो के निर्माण का समय अपने-आप निश्चित हो जाता है। यद्यपि यह सभव है कि परम्परागत मौखिक रूप से प्रसिद्ध रहने के कारण उनकी भाषा मे कुछ परिवर्तन हो गया हो। और यह भी संभव है कि कुछ पद्य प्रबधोक्त व्यक्तियों के समकालीन कवियो के न होकर परवर्ती कवियो के भी हो, फिर भी ये पद्य काफी प्राचीन हैं और इनसे ५वीं शताब्दी से लेकर १४वी-१५वी शताब्दी तक की भाषा के विकास की अच्छी सामग्री मिल जाती है। कुछ पद्य अपभ्रंश के हैं और कुछ बोलचाल की जन-भाषा के। इनसे अपभ्रंश शब्द किस तरह सरल बनते गए, इसकी भी अच्छी जानकारी मिल जाती है। इन पद्यो मे से बहुत गूढ और कठिन तथा गभीर अर्थ वाले

थे। यह प्रभावक-चरित्र में दिए हुए ३ और ४ अर्थों से विदित होता है। वृद्धवादी के कहे हुए एक पद्य के ३ अर्थ और बप्पभट्टसूरि चरित्र में-आए हुए १ पद्य के ४ अर्थ प्रभावक-चरित में बतलाए गए हैं।

इन पद्यों में कुछ दूहे-सोरठे हैं, जिनका प्रचार उस समय और उसके बाद भी बहुत अधिक रहा है। दूहा, अपभ्रंश-काल का विशिष्ट छन्द है। थोड़े से शब्दों में बहुत अधिक भावों के प्रकाशन की उसमे क्षमता है। चारण कवियों के कहे हुए हजारों दोहे-सोरठे मिलते हैं। जैन कवियों ने भी इस छन्द को बहुत प्रधानता दी है। उदयराज के ४००, जसराज के २००, मानकवि के ३५०, इस प्रकार एक-एक कवि के सैंकडों दोहे और कुछ सतसइया एवं प्रबंध-काव्यादि मिलते हैं। ढोला-मारू रा दूहा, माधवानलप्रबध आदि काव्य दोहों में ही हैं। जैन कवियों के सैंकडो रास चौपाई आदि चरित्र-काव्यो मे प्रत्येक नई ढाल के प्रारंभ में कुछ दोहे अवश्य दिए गए हैं।

उस समय का दूसरा छन्द है—कवित्त, जिसका ६ पक्तियां होने से षट्पद या छप्पय नाम भी पाया जाता है। १२वी से १६वी शताब्दी तक तो कवित्त छंद का काफी प्रचार रहा। आगे दिए जाने वाले पद्यो में सब से प्राचीन छप्पय बप्प-भट्टसूरि प्रबध मे उद्धृत मिले हैं। बप्पभट्टसूरि का समय तो ९वी-१०वी शताब्दी का है, पर ये पद्य सभव है, कुछ पीछे के हो, क्योंकि इनका बप्पभट्ट-सूरि से सीधा सम्बन्ध नही है। पर १२वी शताब्दी के वादिदेवसूरि संबधित छप्पय तो उसी समय रचे गए होगे। देवाचार्य प्रबंध में ऐसे दो छप्पय आए हैं। पर ऐसे कुछ और भी छप्पय इन्ही आचार्य से सबधित वृहद्गच्छ गुरु-वावली मे भी पाए जाते हैं। हमारे सपादित ऐतिहासिक जैन-काव्य सग्रह में भी १२वी से १५वी शताब्दी तक के कई छप्पय प्रकाशित हैं। प्राचीन गुर्जर-काव्य संग्रह में रत्नसिह सूरि-शिष्य रचित 'उवएसमाल कहाणय' नामक रचना ८१ छप्पय छन्दो में है। सिद्धराज जयसिंह ने रुद्रमहालय नामक विशाल मंदिर बनाया, उसके संबधित कवि हल्ल या लल्ल रचित ८ छप्पय 'भारतीय विद्या', वर्ष ३ मे पहले प्रकाशित हुए थे और अब दूसरी प्रति के आधार से इसी अक में प्रकाशित भँवरलाल के लेख मे पुन प्रकाशित किए जा रहे हैं। पृथ्वीराज और जयचंद सबंधी जो ४ पद्य आगे दिए गए हैं वे भी छप्पय ही हैं। इससे इस छद की लोकप्रियता का पता चलता है।

आगे दिए जाने वाले पद्य प्रभावकचरित और प्रबधचिन्तामणि, प्रबध-कोश, पुरातन प्रबध-सग्रह, कुमारपाल प्रतिबोध और उपदेशसप्तति इन ६

ग्रंथों से ही लिए गए हैं और इनमें पूरे नही आ पाए एवं कुछ पद्य कई ग्रथों मे उद्धृत मिलते हैं। अभी और ऐसे कई जैन ग्रंथ है, जिनमें प्राचीन भाषा-पद्य काफी सख्या में उद्धृत मिलते हैं। सं० १४६६ मे शुभशीलरचित विक्रमचरित ऐसा ही एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। उसमें उद्धृत भाषा-पद्य अन्य लेख में प्रकाशित किए जायेगे। सुभाषित संग्रह की कई प्रतियो में प्राकृत संस्कृत पद्यों के साथ-साथ अपभ्रंश और प्राचीन राजस्थानी के पद्य भी प्रचुर परिमाणो में मिलते हैं। हमारे संग्रह में १६वी शताब्दी की लिखी हुई सुभाषितावली नामक जैन ग्रंथ की प्रति प्राप्त है, जिसमे पचासों सुभाषित जन-भाषा के भी हैं। इस लेख मे दिए जाने वाले पद्यों में भी ऐसे दो-तीन सुभाषित आए हैं। फुटकर प्रतियो मे भी ऐसे अनेक सुभाषित मिलते हैं, उन सब का संग्रह एवं प्रकाशन किया जाना वाछनीय है।

## प्रभावक चरित

अणूहुल्लीय[1] फुल्ल म तोडहु मन[2] आरामा म मोडहु।
मण[3] कुसुमहिं अच्चि निरञ्जणु, हिण्डहु काइ वणेण वणु॥

—वृद्धवादिसूरिचरितम्–पृ० ५७; प्रबंध कोशः पृ० १८

अर्थ—तथाहि– 'अणु' अल्पमायूरूपं पुष्प यस्याः सा'अणुपुष्पिका'-मानुष तनु, तस्याः पुष्पाण्यायुः खण्डानि तानि मा त्रोटयत, राजपूजागर्वाद्यकुटीभिः। 'आरामान्' आत्मसत्कान् यमनियमादीन् सन्तापापहारकान् मा मोट्यत-भंजयत। मन.कुसुमै.' क्षमामार्दवार्जव सन्तोषादिभिरर्चय, निरञ्जनम् - अञ्जनान्यहङ्कारस्थानानि जातिलाभादीनि निर्गतानि यस्य स निरजन.– सिद्धिपदप्राप्तस्तं ध्यायतु। 'हिण्डत' भ्रमत 'कथ वनेन वन' मोहादितरुगहनेनारण्यमिव ससाररूप गहनमित्येकोऽर्थः॥ १

अथवा– अणुर्नामाल्पधान्यं तस्य पुष्पाण्यल्पविषयत्वान्मानवतनो., सा अणुपुष्पी, तस्याः पुष्पाणि महाव्रतानि शीलाङ्गानि च तानि, मा त्रोटयत-मा विनाशयत। 'मन आरामं मोटयत' चित्तविकल्पजाल संहरत। तथा 'निरञ्जन' देव मुक्तिपदप्राप्त, म न' इत्यनेन द्वौ निषेधशब्दौ-मा च न श्च, ततो मा कुसुमैरर्चय निरञ्जन वीतरागम्। गार्हस्थ्योचित देवपूजादौ षड्जीवनिकाय-विराधके मोद्यम कुरु, सावद्यत्वात्। 'वनेन' शब्देन कीर्त्या हेतुभूतया, 'वन' चेतनाशून्य (वा)दरण्यमिव भ्रमहेतुतया मिथ्यात्व शास्त्रजात, 'कथ भ्रमसि' अवगाहसे लक्षणया, तस्मान्मिथ्यावादं परिहृत्य सत्ये तीर्थकृदादिष्टे आदरमाधेहि। इति द्वितीयोऽर्थः॥२

अथवा– अणरणेति धातोरणः शब्द. स एव पुष्पमभिगम्यत्वाद्यस्याः सा'ऽणपुष्पा' कीर्तिः। तस्याः पुष्पाणि सद्बोधवचासि तानि मा त्रोटयत-मा संहरत। तथा 'मनस आरा' वेधकरूप-

---

[1]मणफुल्लिय [2]मा रोवा मोडहि [3]मणकुसुमेंहि।

स्वात् अध्यात्मोपदेशरूपात्तान् मा भोटयतत्रुध्यान्याभिर्मा विनाशयत । मनो निरंजनं रागादिलेपरहित कुसुमैरिव कुसुमैः सुरभिशीतलैः सद्गुरूपदेशैरर्चय पूजित श्लाघ्य कुरु । तथा वनस्योपचारात् संसारारण्यस्य, तस्येन स्वामी परममुनित्वात् तीर्थंकृत्, तस्य वनं शब्दसिद्धान्तसूत्रम कथं हिण्डत भ्रान्तिमादधत । यतस्तदेव सत्यं । तत्रैव भावना रतिः कार्या । इति तृतीयोऽर्थः ॥३ ।

> नवि मारिग्रइ नवि चोरिग्रइ, पर-दारह ग्रत्थु निवारिग्रइ ।
> थोवाह वि थोव दाइग्रइ, तउ सग्गि टुगुटु गु जाइयइ ॥[1]
>
> —वृद्धवादिसूरिचरितम्, पृष्ठ ६०

> तत्ती सीग्रली मेलावा केहा,
> धरग उत्तावली प्रिय मदनिरणेहा ।
> विरहिहि[2] मागुसु ज[3] मरइ तसु कवरण निहोरा,
> कनि[4] पवित्तही जणु जाराइ दोरा ॥
>
> —बप्पभट्टिसूरिचरितम्, पृ० ८६, प्रबंधकोश, पृ० ३३

ग्रर्थ—तथाहि- एका लोहपिण्डी वह्निना तप्ता । अर्थात् ज्ञेया । एका शीतला । अनयोर्मीलकः मसर्गः कीदृशः । उभयोरपि तप्तयोरेव सम्बन्धो भवति । इत्यनेन विमुक्तमद्य रणरणकतप्ताः ग्रयं च औदासीन्याज्जितेन्द्रियत्वाल्लिर्लोभत्वाच्च शीतस्तदस्माकमनेन सह कथ मीलकः इति । तथा, धना देशीशब्देन पत्नी, सा उत्सुका; प्रियश्च मन्दस्नेह । तत कथ मीलको भवति । विरहेण यन्मानुष म्रियते मृततुल्य प्राणसंग भवति तस्य को निहोरकः उपरोध, तत्र कृतेपि न जीवति । मिलित एव प्रणयिनि जीवति । तथा करणे पवित्रिकेव जनो जानाति दोरक द्वित्रिगुणावर्तितन्तु रूप स्वर्णाधरस्येति वास्तवार्थः ॥ १ ॥

तथा- तप्त तपस्तदिच्छतीत्येव शीलम्तपस्वरपीच्छुः स तप्तैषी । तथा, ग्रली भूपाप्रिय एको मक्षणया सकामः । नाकामी मडनप्रियः' इति वचनात् । ग्रनयोर्मीलक विषये का ईहा चेप्टा, किन्तु न कापि । तथा उप्त घन यै स्ते धनोप्ताः आहिताग्न्यादित्वात् क्तान्तपरनिपातः, तेपामावली श्रेणिर्दानेश्वरसमूहस्तस्य प्रियो वल्लभः । दानेश्वराणां हि सत्पात्रेच्छा विशेषतो भवति । स चार्थाचार्यः । स मन्दस्नही निर्मोह इत्यर्थः । तथा, विरहे विशिष्टैकान्ते तद्वेनो-

---

[1]नवि मारीयए नवि चोरीयए परदारागमरण निवारीयए ।
थोवावि हु थोवं दईयए, इम सग्गि टगमगु जाईयए ।।
—प्रबन्ध चिन्तामणि (विक्रमार्क प्रबन्धः, पृ. ७)

नवि मारिग्रइ नविचोरियइ परदारह गमरण निवारियइ ।
थोवाथोव दाइयइ सग्गि टुगुटुगु जाइयइ ॥
—प्रबन्धकोशः पृ १६

[2]विरहि [3]जो [4]करिण ।

म्रियते, लक्षणया तदर्नं सन्तप्यत इत्यर्थः। तस्य का न होरा मुहूर्तरूपाः। स सर्वदा तस्य विरहे सन्तप्त एवास्ते। स क इति प्रश्नाद्याहारे, कन्नि-कान्यकुब्जे, पवितडित्समानः-विद्यु त्समस्तेजस्वी, जनो विद्वज्जनो मल्लक्षणः, स जानाति 'दो रा' द्वौ राजानौ। वास्तवेऽर्थे-द्वावेव राजानौ धर्मे ग्रामश्च विद्वत्प्रियावपि मच्चिते। गूढार्थस्तुएतावता राजन्! त्वया ज्ञेयम्, यद्गुरुप्रतिज्ञानिर्वाहाय आमोऽस्यायातोऽस्तीति द्वितीयोऽर्थः॥ २

तथा— तप्ति.— सारा शीतला यत्र, श्लथ ग्रादर इत्यर्थ। स तप्तिशीतलः। 'स्वराणा स्वराः प्रायोऽपभ्रशे' इतीकारः। तत्र मीलकः कीदृशः। यतः-ध्वनदुक्तावली, चमत्कारिकाव्य श्रेणिरवल्लभा यस्य, अर्थादाचार्यः। सोऽस्मासु मन्दस्नेह। स उपरोधेन न गृह्यत इत्यर्थः। तथा, विरहे अर्थाद् विषयवियोगे सर्वसगपरित्यागे सति योऽमरति मानुषः पुरुष', देववत् सुखी भवति, तस्यः कः स्नेह सम्बन्धादिष्। निहोरक उपरोध', स उपरोधेन न गृह्यत इत्यर्थः। करणप्रवृत्तिर्दानेश्वरत्वात् कर्णरीतिः। दोरा-दोषा राजते महाबाहुः स आम एव। एव विधमपि सूरिर्जनमिव प्राकृतमिव जानाति न किंचिदित्यर्थः॥ ३

तथा— तत्त्वानि ईष्टे तत्त्वेशी, अतएव अर्ला सगनिषेधी, तस्य मेलः ससर्गः तस्य अवोऽवाप्तिः। 'स्वराणा स्वरा' इत्याकारः। तथा, के ब्रह्मणि, ईहा चेष्टा, यस्य स केह.—परमब्रह्मेच्छः। दीर्घ प्राग्वत। धनयुक्तानामावली श्रेणिः। प्रिया अमन्दस्नेहा अत्यर्थ प्रीतिर्भवति। विगतरागेषु हि सर्वः प्रीतिमान्। धनवन्तो ऽपि तत्रैव रति विदधति। तथा, विः पक्षी गरुड, स रथो यस्य स विरथो—विष्णुस्तस्मिन्नर्थात् चित्तस्थे, यो म्रियते तस्य को निभः सदृशः। सच रा राजेव एवं भवति। गुरौ चित्तस्थे मृत्युरपि श्लाघ्यः। तथा, जह्नु नद्या गंगायाः सकाशात् का अन्या पविता। अयमेव भगवान् पूज्य.। तथा, 'दोरा' द्वौ राजानौ संगतौ यस्य स द्विराट् सर्व सामर्थ्ययुक्तो भवानेव यदुचित तद्विधेहीति चतुर्थोऽर्थः॥ ४

करवत्तयजलबिंदुआ, पंथिय हियइ निरुद्ध।
सा रोअंती सभरी, नयरि ज मुकी मुद्ध॥

—बप्पभट्टिसूरिचरितम् पृ० ८७

छायह कारणि सिरि धरिअ, पच्चिव वि भूमि पडंति।
पत्तह इहु पत्तत्तणु, वरतरु[1] काइं करति॥

—(बप्पभट्टिसूरिचरितम्, पृ० ८७), प्रबंधकोश, पृ० ३१.

गय माणसु चंदणु भमरु, रयणायरु सिरि(समि ?) खडु।
जड उच्छु य बप्पभट्टि किउ, सत्तय गाहासंडु॥ बप्प०, पृ० ८७
हंसा[2] जहि गय तहि जि गय[3], महिमडणा हवति।
छेहउ[4] ताह महासरह[5], जे[6] हंसिहिं मुच्चंति॥ पृ० ८७.

—प्रबधकोश, पृ० ३०

---

[1]तरुवर [2]हस [3]गया [4]छेहडु [5]सरोवरह [6]जं हंसे।

पमु जेम पुलिंदउ पीअइ जलु, पंथिउ कमगिहि कारणिण ।
करवेवि करविय कज्जलिण, मुद्धहि अंसुनिवारणिण ॥ पृ० ६१
गयवरकेरइ सरवरइ, पायपसारिउमुत्त ।
निच्चोरी गुजरात जिम्व, नाहु न वेगइ मुत्त ॥ वप्प०, पृ० ६४

छप्पय– जे चारित्तिहिं निम्मला, ते पचायण सीह ।
विसयक साइहिं गजिया, ताहं फुसिज्जइ लीह ॥
ताह फुसिज्जइ लीह, इत्यते तुल्ल सीआलह ।
ते पुण विसयपिसायछलिय गय करिणिहि बालह ॥
ते पंचायण सीह, सत्ति उज्जल नियकित्तिहिं ।
ते नियकुलनहयलमयंक, निम्मलचारित्तिहिं ॥ वप्प० पृ० १००

पंचमहव्वयजुत्त, पंचपरमिट्ठिहि भत्तउ ।
पंचिदियनिग्गहणु, पंचविसय जु विरत्तउ ॥
पंचसमिइ निव्वहणु, पगुणगुणु आगमसत्थिण ।
कुविहि कुमह परिहरइ, भविय बोहिय परमत्थिण ॥
बालीमदोसमुद्दामणिण, छव्विह जीवह अभयकरु ।
निम्मच्छरु केसरि कहइ, गुइ तिगुत्तिगुत्तु मो मज्झ गुरु ॥ वप्प० पृ० १०४

कुभ्भी सवल सत्तधण, निच्चुदलविय हत्थ ।
एहा कहवि गवेसि गुरु, ते तारणह समत्थ ॥ पृ० १०४
दोवि गिहत्था धडहड वच्चइं को किर कस्सं य पत्त भणिज्जइ ।
सारमो सारमं पुज्जइ कहमु कहमेण किम मुज्झइ ॥ पृ० १०४

(देखो– प्रबंधकोश:, पृ० ४०)

बे धउला बे सामला, बे रत्तुप्पलवन्न ।
मरगयवन्ना बिन्नि जिण, सोलस कवणवन्न ॥
नियनियमाणिहि कारविय, भरहि जि नयणाणंद ।
ते मई भाविहि वंदिया, ए चउवीस जिणंद ।

( वीरसूरिचरितम् पृ० १३१ )

अवरहं देवह सिर पुज्जिअइ, महणाह पुणु निणु ।
बलिआ ज जि प्रतिष्ठइ, त जण मग्गइ चगु ॥

( महेन्द्रसूरिचरितम्, पृ० १४२ )

पमुवे दइवि विहिमियउ, निमुणइ साढ्ढरसम्म ।
त जाणइ नरयह दुहह, दिढउ मचक्कार ॥ पृ० १४३
हेमसूरि मत्थाणि, ते ईसर जे पंडिया ।
लच्छिवाणि मुहकाणि, सा पइ भागी मुह मरउ ॥

( हेमचन्द्रसूरिचरितम्, पृ० १८७ )

कुमारपालादि प्रबंध:, पृ० ६२ । पुरा० प्र० सं० पृ० १२५

तत्रनेमिनाथं च नत्वा भक्तिभरानत. ।
दिशोऽवलोकयामास तत ऊचे स चारण. ।।
मइं[1] नाय सीधेस, जं चडिउ गिरनारसिरि ।
लईग्रा च्यारु देम, ग्रलयउ जोग्रइ कर्णऊत्र ।। ( हेमचन्द्र० पृ० १६५ )

## प्रबन्ध चिन्तामणि

किं जीवियस्स चिन्ह, का भज्जा होइ मयणरायस्स ।
का पुप्फाण पहाणा, परिणीया किं कुणइ बाला ।। सामुरइजाइ
( विक्रमार्कप्रबन्धाः पृ० ६ टि० )

'निवरुइ प्र० (?) णाण मज्भे, कामिणी हारो न होइ से सुहय ।
तक्कहि ग्रो विन याणासि पडिय गव्वं किमुव्वहसि ।। (पृ० ७)
ग्रम्मीणउ सदेसडउ, नारय कन्ह कहिज्ज ।
जगु दालिद्दिहि दुत्थियउ, बलिबन्धणह मुइज्ज ।। ( वि० पृ० ८ )
उग्या ताविउ जिहिं न किउ, लक्खउ भणइ ति घट्ठ ।
गणिया लब्भइ दीहडा, के दह ग्रहवा ग्रट्ठ ।। (मूलराज प्रबन्ध, पृ० १६)
इणि राजिइं न हु काजु, भोज गुणागर तूह विणु ।
काठ दिवारउ ग्राज जिम जाई भोजह मिलू ।।
देव ग्रम्हारी सीख, कीजइ ग्रवगणिग्रइ नही ।
तूं चालती भीख, इणि मन्त्रिहिं हुस्यइ सही ।।
रुलीयउं रायह राजु, तइ बइठइ मइं लघीयइ ।
ए पुणि वडउ ग्रकाजु, तू जाणे माभवघणी ।।
सामी मुहतउ वीनवइ ए छेहलउ जुहारु ।
ग्रम्ह ग्राइमु हिव सीसि तुह, पडतउं देखू छारु ।।
( मुंजराजप्रबन्ध, पृ० २२ )
मुंजु[2] भणइ मुणालवइ, जुव्वणु[3] गयउं न[4] झूरि ।
जइ सक्कर सयखण्ड थियं[5], तोइ स मीठी चूरि ।।
( देखो–पुरा. प्र० सं०, पृ० १२६ )

---

[1]मइ नाईउ सिद्धेस, तउ चडिग्रो उज्जिल सिहरि ।
जीता च्यारइ देस, ग्रलीउं जोग्रइ कर्णउत्र ।।
( मं० सज्जनकारितरैवत० प्र०, पृ० ३४ )
[2]पभणइ मुजु ।
[3]गउ जुव्वसा मन भूरि ।
[4]म ।
[5]किय (मुजराज प्र०, पृ० १४)

सउ चित्तह सट्ठी मणह, बत्तीसडा[1] हियाह ।
अम्मी[2] ते नर ढड्ढसी, जे विससइं तियाह ॥

( देखो–पु० प्र० सं०, पृ० १२६ )

झोली तुट्टवि किं न मूउ, किं हूउ न छारह पुंज ।
हिण्डइ[3] दोरी दोरियउ, जिम मक्कडु तिम मुंजु ॥

( देखो–पु० प्र० सं० पृ० १२६ )

मायरु पा (सा) इ लक गढ़, गढवइ दस सिरु राउ ।
भग्ग प (ख) इ सो भज्जि गउ. मुंज म करसि विसाउ ॥
गय गय रह गय तुरय, गय पायक्कडानि[4] भिच्च ।
सग्गट्ठिय करि मन्तणउ, मुहुता रुद्दाइच्च ॥

( मुंजराजप्रबन्ध, पृ० २३ )
पु० प्र० सं०, पृ० १२८

भोली[5] मुन्धि म गव्वु करि, पिक्खिवि पड्डुरुयाइं ।
चउदह[6] सइ छहुत्तरइ, मुंजह गयह गयाइं ॥

( देखो–पु० प्र० सं०, पृ० १२६ )

च्यार वइल्ला धेनु दुइ, मिट्ठा बुल्ली नारि ।
काहु मुंज कुडंबियाहं, गयवर बज्झइं बारि ॥
जे थवका गोला नई, हू बलि कीजूं ताह ।
मुंज न दिट्ठउ विहलिउ, रिद्धि न दिट्ठ खलाहं ॥
दासिंहि नेह न होइ, नाना निरहिं जाणीयइ ।
राउ मुंजेसरु जोइ, घरि घरि भिक्खु भमाडीइ ॥
वेसा छडि वडायती, जे दासिहिं रच्चति ।
ते नर मुञ्जनरिन्द जिम, परिभव घणा सहंति ॥

( देखो–मुंजराज प्र०, पृ० १४ भी )

जा मति पच्छइ सम्पज्जइ, सा मति पहिली होइ ।
मुंज भणइ मुणालवइ, विघन न वेढइ कोइ ॥

( मुंजराजप्रबन्ध, पृ० २४ )

---

[1]बत्तीसडी ।
[2]अम्हे ते नर ढाढसो, जे वीसस्या स्त्रीयांह ।
[3]घरि घरि भिक्ख भमाडीइ (मु० प्र० पृ० १४
[4]पाइक्क अनु. (मुंजराजप्रबन्धः, पृ० १४)
[5]मा गोलिणि मनगव्वु करि ।
[6]पचहं सइ बिहुत्तरां (मु० प्र०, पृ० १५)

जईयह[1] रावणु जाईयउ, दहमुहु इक्कु सरीरु ।
जणणि वियम्भी चिन्तवइ, कवणु पियावउं खीरु ॥
( पुरातनप्रबंधसंग्रह, पृ० ११८ )

कवणिहिं विरहकरालिग्रइं, उड्डाविउ वराउ ।
सहि अच्चब्भुग्र दिट्ठु मइं, कण्ठि विलुल्लइ काउ ॥
( भोज-भीमप्रबन्ध, पृ० २८ )

एहु जम्मु नग्गहं गियउ, भडसिरि खग्गु न भग्गु ।
तिक्खा तुरिय न वाहिया[2], गोरी गलि[3] न लग्गु ॥ पृ० ३२
नवजल भरीया मग्गडा, गयणि धडुक्कइ मेहु ।
इत्यन्तरि जइ ग्राविसिइ, तउ जाणीसिइ नेहु ॥ भो०, पृ० ३२ टि०
भोय एव गलि कण्ठलउ, भू भल्लउ पडिहाइ ।
उरि लच्छिहि मुहि सरसतिहि, सीम विहंची काइ ॥ पृ० ४५
माउलिगु जइ वुच्चउ, वुच्चउ इउ मइं कहिउ लोहहं समच्चउ ।
भोएव पुहविहिं गउ, ग्रवरु न वुच्चइ बीजउ राउ ॥ पृ० ४५ टि०
माणुसडां दस दस दसा, सुणियइ[4] लोयपसिद्ध ।
मह कन्तह इक्क ज दसा, ग्रवरि ते चोरहिं लिद्ध ॥ पृ० ४७
( पुरा० प्र० सं०, पृ० १२१ )
माणुसडा दस दस हुवइ, दैविहिं निम्मवियाइं ।
मह कंत इक्कइ जि दस, नव चोरिहिं हरियाइ ॥ पृ० ४७ टि०
कसु करु रे पुत्त कलत्त धी, कसु करु रे करसणवाडी ।
एकला ग्राइवो एकला जाइवो हाथ पग बेहु झाडी ॥ पृ० ५१

सिद्धराजस्तु समुद्रोपकण्ठवर्ती एकेन चारणेन—
को जाणइ[5] तुह नाह, चीतु[6] तुहालउ चक्कवइ ।
लहु लंकह लेवाह, मग्गु निहालइ करणउत्तु ॥
( सिद्धराजादिप्रबन्ध, पृ० ५८ )
( देखो—पु० प्र० सं०, पृ० १३४ )

इति स्तूयमाने, द्वितीयेन चारणेनोक्तम्—
धाई घोग्रइ[7] पाय, जेसल जलनिहि तोहिला ।
तइं[8] जीता सवि राय, एकु विभिषणु मिल्हि म हु ॥
( देखो—पु० प्र० स०, पृ० १३६ )
( सि० प्र०, पृ० ५८ )

---

[1]जईय ।
[2]माणिग्रा (कुल च० प्र०, पृ० १८)
[3]कठ (कु०प्र०, पृ० १८)
[4]सुणीइ [5]नरनाह [6]चित्तु [7]धोया [8]पइं लइया ।

सइरू नही म राणा न कु लाईइ ।
सउ पंगारिहिं प्राण कि न वइसानरि होमीइ ॥
राणा सव्वे वाणिया, जेसलु वड्डउ सेठि ।
काहूं वणिजडु माण्डीयउं, अम्मीणा गढहेठि ? ॥

( सोनल वा०, पृ० ३५–३४ )

तइं गरूआ गिरिनार, काहूं मणि मत्सरु धरिउ ।
मारीतां पंगार, एकू सिहरु न ढालियउं ॥
वलि गहया गिरिनार, दीहू वोलाविउ हूयउ ।
लहिसि न बीजी वार, एहा सज्जण भारखम ॥
अम्हे एतलइ सतोसु, जउ[1] प्रभु पाए पेलिया ।
न कु राणिमु न कु रोसु, वे खगारइं सिउंगिया ॥
मन तंबोलुम मागि, झंखि म ऊघाडइ मुहिहिं ।
देउलवाडउ सागि, खंगारिहिं सउ तं गियउं ॥
जेमल मोडि म बाह, वलिवलि विरए भावियइ ।
नइ जिम नवा प्रवाह, नवघण विणु आवइ नहीं ॥
वाढी[2] तउ वढवाण, वीसारता न वीसरइ ।
सूना[3] समा पराण, भोगावह तइ भोगव्या ॥ ( सिद्ध० प्र० पृ० ६५ )
आपणपइ प्रभु होईयइ, कइ प्रभु कीजइ हत्थि ।
काजु करेवा माणसह, त्रीजउ मागु न अत्थि ॥ कुमारपालादिप्रबंध, पृ० ८१
सोहग्गिउ सहिकच्चुयउ, जुत्तउ ताणु करेइ ।
पुट्ठिहि पच्छइ तरणीयणु, जसु गुणगहणु करेइ ॥ कु०, पृ० ८६

एकेन चारणेन प्रभुसमागतेन—

लच्छि-वाणिमुहकाणि, सा पइं भागी मुह मरउं ।
हेमसूरि अत्थाणि, जे ईसर ते पंडिया ॥ ( कुमारपालादिप्रबंध, पृ० ९२ )

अत्रान्तरे प्रविश्य द्वितीयश्चारण:—

हेम तुहाला कर मरउ, जिह अच्चब्भुअरिद्धि ।
जे चपह हिट्ठा मुहा, तीह ऊपहरी सिद्धि ॥ ( पृ० ९२ )

( पु० प्र० सं०, पृ० १२६ )

---

[1] जं पहुपाय पेलीआं ।
इक राणिम अनरोमु, वेड खंगारिइं सउं गयो ।
[2] वढी ।
[3] सोनल केरा प्राण, भोगावहिसिउं भोगव्या ।

(सोनलवाक्य, पृ० ३४–३५)

इक्कह फुल्लह माटि, सामीउ देयइ सिद्धिसुहु ।
तिणिमउ केहो साटि, कटरे भोलिम जिणवरह ॥ कु०, पृ० ६३
महिवीढह सचराचरह, जिणि सिरि दिन्हा पाय ।
तसु अत्यमणु दिणेसरह होइ तु होउ चिराय ॥ कु०, प्र० ६७

## पुरातन प्रबन्धसंग्रह

एरति घोडा एग्र बल, एग्रति निसिग्रा खग्ग ।
इत्थ मुणीस जाणीग्रइ, जो नवि वालइ वग्ग ॥
धडु घोडइ सिरु धरणि ग्रलि, ग्रतावलि गिद्धेहि ।
महु कतह रिणसामीग्रह, दिन्नं तिहु खधेहि ॥
(प्रस्ताविक–टिप्पनी सूचित परिशिष्ट सग्रह)

च्यारि पाय विचि दुडुग्रसु दुडुग्रसु,
जाइ जाइ पुणु रडुधुसु रडुधुसु ।
ग्रागलि पाछलि पुछु हलावइ,
ग्रधारउ किरि मूला चावइ ॥ (विक्रमार्कप्रबंधाः, पृ० १०)

गय गय रह गय तुरय गय, गय पाइक्क ग्रनुभिच्च ।
सग्गट्ठिय करि मत्रणउ, महँता रुद्दा इच्च ॥
मुंज भणइ मिणालवइ, केसा काइ चुयति ।
लद्ध उ साउ पयोहरइ, बधण भणीग्र रग्रति ॥
इच्छउ इग्ररमणारहाण, मणवछिग्राण सपत्ती ।
न पहुप्पइ बंधणदोरिग्रा वि दिव्वे पराहुत्ते ॥
मुंज भणइ मिणालवइ, गउ जुव्वण मन भूरि ।
जइ सक्कर सयखड किग्र, तोइ स मिट्ठी चूरि ॥
झोली तुट्टवि किं न मूउ, न हूउ छारह पुज ।
घरि घरि भिक्ख भमाडीइ, जिम मक्कड तिम मुज ॥
वेसा छडि वडाइ ती, जे दासिहि रच्चति ।
ते नर मुज नरिंद जिम, परिभव घणा सहति ॥ (मुंजराजप्रबंध' पृ० १४)
मा गोलिणि मन गव्वु करि, पिखिवपडुरुग्राइं ।
पंचइ सइ बिहुत्तरां, मुजहगय गयाई ॥ पृ० १४
ग्रद्धां ग्रद्धा नयगला, जइ सु मुज न लित ।
सत्तइ सायर सघर घर, महि सिंघलु भंजत ॥ मुज०, पृ० १५
तिक्खा तुरिग्र न माणिग्रा, सडसिरि खग्ग न भग्गु ।
एह जम्म नग्गह गयउ, गोरी कठि न लग्गु ॥

(कुलचन्द्रप्रबन्ध', पृ० १८)

नव जल भरिआ मग्गडा, सजल घडुक्कइ मेहु ।
इअ वारि जइ आविसिइ, तउ जाणीसिइ नेहु ॥ कु०, पृ० १६

अत्थि कहंत किंपि न दीसइ [नत्थि], कहउ त सुहगुरु रूसइ ।
जो जाणइ सो कहइ न कीसइ, अज्जाण तु वियारइ ईसइ ॥
(भोजदेवप्रबन्धाः, पृ० २२)

तुह मूडिए घणेहिं, धार न लीजइ कर्णउत्त !
जिम जे हूंडे (?) अऊंवेहि, जोइ न जेसल आवतउ ॥—(धाराध्वंसप्रबंध', पृ० २३)

वम अट्ठ नव वुद्ध भगव अट्ठारस जित्तय,
सइव सोल दह भट्ट सत्त गधव्व विजित्तय ।
जित्त दिगम्बर सत्त च्यारि खत्तिय दुय जोइय
इकु धीवर इकु भिल्लु भूमिपाडिओ इकु भोईओ ।
ता कुमुदचंदि इय जित्त सवि अणहिल्लपुरि जओ आइयओ ।
वडगच्छतिलइ पहुदेवसूरि कुमुदह मदु उतारियओ ॥

उपदेशसप्तति—(देवाचार्यप्रबन्धः, पृ० २७)

च्यारि जोड नीसाण, हय हिंसइ पच पच्यासी,
इगआरह सइ सुहड, सोस सइ दुन्नि चिल्लणसी ।
वलदह सइ विआरि, कम्मकर पचछहुत्तर,
अत्थ लक्ख पणवीस, दम हुइ लक्ख वहुत्तर ।
ता चमर छत्त तुट्टर विरुद, सुखासण वाहण लियओ ।
वडगच्छतिलइ पहुदेवसूरि, नगओ वलि नगओ कियओ ॥

उपदेशसप्तति—(देवाचार्यप्रबन्ध', पृ० ३०)

मइं नाईउ सिद्धेस, तउ चडियओ उज्जिल सिहरि ।
जीना च्यारइ देस, अलीउ जोअइ कर्णउत ॥

(सं० सज्जनकारितरैवत तीर्थोद्धारप्रबन्धः, पृ० ३४)

खडहडीयां खंगार, घणीविहूणां धूलहर ।
गया करावणहार, जाइमिइं·········· ॥
पइं गरूआ गिरनार, काहउ मनि मत्सर धरिउ ।
मारिता खगार, एकू सिहर न ढालिउ ॥
वीजलिआ बीजी वार, सोरठ म आवे प्राहुणउ ।
अम्मीणउ भडार, लाई तइ लूमी लीउ ॥
मन तवोन म मागि, कवि म उपाडइ मुहिहिं ।
देउल वाडउ मागि, तउ मगारि सउं गयउ ॥
जेमन मोडि म बाह, वलि वलि वरूउ भाविसइ ।
नदी जिम नवा प्रवाह, नवघण विणु आवइं नहीं ॥

का हउं करिसि गमार, अणहिलवा उइ रूम्रडइं ।
मिहर तणां गिरनार, मूता ही सालइं हीम्रइ ॥

बलि गरुम्रा गिरनार, दीहू नीझरणे झरइ ।
बापुडली गुजरात, पाणीहइ पहुरउ पडइ ॥

राणा सव्वे वाणिया, जेसल वड्डउ सेठि ।
काहउं वणिजडु माडीउ, अम्मीणा गढ हेठि ॥

गया ति गगह तीरि, हंस जिमी बइसता ।
अट्ठीणइ ढढारि, बगला बइसेवउ करइं ॥

अम्ह एतलइ सतोस, ज पहुपाय पेलीम्रा ।
इक राणिम ग्रनरोमु, बेउ खंगारिइं सउ गया ॥

वढी तउं वढवाण, वीमारता न वीसरइं ।
सोनल केरा प्राण, भोगावहिसिउं भोगव्या ॥

(सोनलवाक्यः, पृ० ३४-३५)

एहे टीलालेहिं, धार न लीजइ करणउम्र ।
जम जेहे प्रउचेहिं, जोइइ जेसलु ग्रावतउ ।

(सिद्धराज सम्बन्धिवृत्तम्., पृ० ३५)

ग्रंब [ड] हुंतु वाणीउ, मल्लिकार्जुन हूंत राउ ।
पाडी माथउ वाढीउ, उग्रडिहिं देविगु पाउ ॥ (राणक ग्रबंड प्रबन्ध पृ० ३६)

द्वारभट्टेनोक्तम्—

"कोडी रक्ख करतु, चडिउ रणि मइगल मारइ० ॥"

(द्वात्रिंशद्विहारप्रतिष्ठाप्रबन्ध, पृ० ४६)

चारणोक्तम्—

"कुयरउ कुमर विहार० ॥" (द्वा०, पृ० ४७)
धागा दोमु न वइजला, न वि सामंतह भेउ ।
जं मुणिवर संताविया, तह कम्मह फलु एहु ॥ (ग्रजयपालप्रबन्ध, पृ० ४८)

चारणेनोक्त मन्त्रिण प्रति—

[दूमा]...जग्र (?) वीर, जउ ग्राव्या दल वाघराइ ।
मोटी हूती हीर, देसह वासेवा तणी ॥

चारणेन—

जिम केतू हरि ग्राजु, तिम जइ लकाहुत दुमाजुग्र ।
नाऊ वूडत राजु, राणाही (व) रावण तणउ ॥

ओ[1] आगिलउ जु होइ, सो जमवीर न जाणीउ ।
ए बूझइ सहु कोइ, एकावन बूमही नहीं ॥
सुन्दरमरि अमुराह, (दलि) जनु पीधउं वयणेहि ।
उदयनरिदिहि कढ्ढिउं, तह नारीनयणेहिं ॥

(मन्त्रि यशोवीरप्रबन्धः, पृ० ५०)

चारणेनोक्तम्—
मही मुरकी रइ करउ, छंडउ मंमह ग्गाह ।
विमलडि खड्ग कढ्ढिअउं, नट्ठउ वालीनाहु ॥

(विमलवसहीप्रबन्धः पृ० ५२)

नयणिहि रोमु निवारि, बयणिहि वरिमइ अमिअ रसु ।
तलि दोरउ संचारि, करि कांई जन वीसरइ ॥

(वस्तुपाल-तेज पालप्रबन्धः, पृ० ५६)

चारणेनोक्तम्—
भाऊ भरहिं काइं, सेत्तुजि मर न काराविउ ।
जाणिउ ईणइं टाइ, आगइ अणु पमडी किउ ॥ व०तें०, पृ. ६३)

चारणोक्तिः—
जीतउ छहि जणेहिं, माभलि समहरि वाजीए ।
त्रिहु भुजि वीरतणेहिं, चिहुं पगि ऊपरवट तणे ॥

(वस्तु०नेज०प्रबंधः, पृ० ६६)

चंदवलिद्दिको द्वारभट्टो नृप प्राह—
इक्कु बाणु पहुवीसु जु पइ कइवासह मुक्कओ,
उर भितरि खडहडिउ धीर कक्खतरि चुक्कउ ।
बीअं करि सधीउं भंमइ सूमेसरनंदण ।
एहु सु गडि दाहिमओ खणइ खुद्दइ सइ भविणु ।
फुड छडि न जाइ इहु लुब्भिउ वारइ पलकउ खल गुलह,
नं जाणउ चदवलद्दिउ किं न वि छुट्टइ इह फलह ॥
अगहु म गहि दाहिमओ रिपुरायखयंकरु,
कूडु मन्त्रु मम ठवओ एहु ज बूय मिलि जग्गरु ।
सह नामा सिक्खवउ जइ सिक्खिविउ बुज्झइ,
जपइ चदवलिद्दु मज्झ परमक्खर सुज्झइ ।

---

[1]ओ आगिमउ जु होइ, पइ जमवीर न सिक्खियउ ।
महि महलि सहु कोइ, बावनइ बूमइ बहु ॥ पृ० ५१

पहु पहुविराय सइंभरिधणी सयंभरि सउणइ संभरिगि ।
कइं वास विग्रास विसट्ठविण मच्छिवंधिबद्धओ मरिसि ॥
(पृथ्वीराजप्रबंधः, पृ०८६)

चन्दबलिद्दभट्टेन श्रीजैत्रचन्द्रं प्रत्युक्तम्—

त्रिण्हि लक्ष तुषार सबल पाखरीग्रइं जसु हय,
चऊदसइ मयमत्त दंति गज्जति महामय ।
बीस लक्ख पायक्क सफर फरिक्क धणुद्धर,
ल्हूमडु ग्रर बलुयान संख कु जाणइ ताहु पर ।
छत्तीस लक्ष नराहिवइ विहिविनडिग्रो हो किम भयउ,
जइचंद न जाणउ जल्हुकइ गयउ कि मूउ कि धरि गयउ ॥
(जयचंदप्रबंधः, पृ० ८८)

जइतचंदु चक्कवइ देव तुह दुसह पयाणउ,
धरणि धसवि उद्धसइ पडइ रायह भगाणग्रो ।
सेसु मणिहिं सकियउ मुक्कु हयखरि सिरि खंडिग्रो,
तुट्टग्रो सो हर धवलु धूलि जसु चिय तणि मंडिग्रो ।
उच्छलीउ रेणु जसगिग गय सुकवि व (ज) ल्हु सच्चउ चवइ,
वग्ग इंदु बिंदु भुयजु ग्रलि सहसनयण किण परि मिलइ ॥ (पृ० ८८-८९)

...डूगर वालणि वलिणि वलि, कित्तीमु ग्रब्भड भज ।
ग्रत्तागमणु न जाणिउं, तुह पनरह मुहु पच ॥
(वज्रस्वामिकारित शत्रुञ्जयोद्धारप्रबंध, पृ० ९९)

जा जा पडइ ग्रवत्थडी० ॥

(G)सग्रहगता ग्रवशिष्टा. प्रबन्धाः,पृष्ठ ११३

जईय रावणु जाइयइ, दहमुह इक्कु सरीरु ।
जणणि वियंभी चिंतवइ, कवणु पियावउ खीरु ॥
(प्रबन्धचिन्तामणि गुम्फित कतिपय प्रबन्ध संक्षेपः, पृ० ११८)

माणसणा(उा) दस दस दसा, सुणीइ लो ग्रपसिद्ध ।
मह कतह इक्क ज दसा ग्रवर ति चोरिहिं लिद्द ॥ पृ० १२१

चारण—

लच्छि वाणि मुहकाणि ए, पइ भागी मुह मरउ ।
हेमसूरि ग्रत्थाणि, जे ईसर ते पंडिग्रा ॥ पृ० १२५

हेम तुहाला कर मरु, जिह ग्रच्चब्भुग्ररिद्धि ।
जे चपइ हिठा मुहा, तीह उपहरी सिद्धि ॥ पृ० १२६

गय गय रह गय तुरय ग्य, पायकडानि भिच्च ।
सग्गट्ठिउ करि मतणुं, महुंता रुद्दाइच्च ॥ पृ० १२८ टि०

पभणइ मुंजु मुणालवइ, जुव्वणु गियउं म झूरि ।
जइ सक्कर सयखंड थिय, तोइ स मीठी चूरि ॥ पृ० १२६

सउ चित्तहं [सट्ठी] मणहं, बत्तीसडी हियाहं ।
अम्हे ते नर ढाढसी, जे वीसस्या थीआहं ॥
भोली तूटी किं न मूयउ, किं न हूउ छारह पुंजु ।
हीडइ दोरी दोरीयउ, जिम मंकडु तिम मुंजु ॥
भोली मूंधि म गव्वु करि, पिक्खिवि पडुसयाइं ।
चऊदमहं बहत्तरहं मुंजह गयह गयाइ ॥ पृ० १२६

को जाणइ नरनाह, वित्तु तुहालउं चक्कवइ ।
तहु लंकह लेवाह, मग्गु निहालइ करणउत्तु ॥
धाई धोया पाय, जेसल ! जलनिहि ताहिला ।
पइ लइया सविराय, इक्कु विभिषणु मिल्हि मुद्दु ॥ पृ० १३४

## प्रबन्ध-कोश

उवयारह उवयारडउ, सव्वु लोउ करेइ ।
अवगुणि कियइ जु गुणु करइ, विरलउ जणणी जणेइ ॥
(श्री जीवदेवसूरिप्रबन्धः, पृ० ८ )

नवि मारियइ नवि चोरियइ, परदारह गमणु निवारियइ ।
थोवाथोव दाइयइ, सग्गि टुकुटुकु जाइयइ ॥
गुलमिउं चावइं तिलतिलादली, वेडिइं वजावइं वासली ।
वहिरणि ओढणि हुइ कावली, इण परि ग्वालइ पूजइ रली ॥
कालउ कवलु अनुनी चाटु, छासिहि खालडु भरिउ नि पाटु ।
अइवडु पडियउ नीलइ झाडि, अवर किसर गह सिंग निलाडि ॥
(वृध्दवादि–सिध्दसेनयोः प्रबन्ध., पृ० १६)

अणफुल्लिय फुल्ल म तोडहिं, मा रोवा मोडहिं ।
मणकुसुमेहिं अच्चि निरजणु, हिंडहिं काइ वणेण वणु ॥
(वृध्द० सिद्ध० प्र० पृ० १८)

हम जिहिं गय तिहिं गया, महिमडणा हवंति ।
छेहु तांह सरोवरह, ज हसे मुच्चंति ॥
(वप्पभट्टिसूरिप्रबंध, पृ० ३०)

छाया कारणि सिरि धरिय, पच्चवि भूमि पडनि ।
पत्तह इहु पत्तत्तणउ, तरुयर कांइ करनि ॥ पृ० ३१

तत्तो गोयली मेलावा केहा, धण उत्तावली पिउ मंदसणेहा ।
विरहि माणुसु जो मरइ, तसु कवणु निहोरा,

कण्णि पवित्तडी जगु जाणइं दोरा ।। पृ० ३३

जं दिट्ठी करणातरंगियपुडा एयस्स सोमं मुहं,
अयारो पसमायरो, परियरो संतो पसन्ना तणू ।
तं मन्ने जरजम्ममच्चुहरणो, देवाहिदेवो जिणो,
देवाण अवराण दीसइ जओ, नेयं सरूवं जए ।। पृ० ४०

दोवि गिहत्था धडहड वच्चइं, को किर कस्स वि पत्त भणिज्जइं ।
सारंभो सारंभं पुज्जइ, कद्दमु कद्दमेण किमु मुज्झइ ।। पृ० ४०

साहसजुत्तइ हलु वहइ, दैवह तणइ कपालि ।
खूटा विणु खीलइ नही, खेडि म खूटा टालि ।।

चारण—

कुमारपाल ! मन चिंत करि, चिंतिइ किंपि न होइ ।
जिणि तुह रज्ज समप्पिउ, चिंत करेसइ सोइ ।।

(हेमसूरिप्रबन्ध, पृ० ५१)

कुमारपाल रणहट्टि, वलिउ कु करिसइ ववहरणु ।
इक्कह पल्लीमट्टि, वीसलक्खउ झगडउ कियउ ।। पृ० ५२

ते मुग्गडा हराविया, जे परिविट्ठा ताहं ।
अवरुप्परजोयंत यह, सामिउ गंजिउ जाह ।।
जइ उट्ठंभइ तो कुहइ, अह डज्झइ तउ छारु ।
एयह दृट्ठ कलेवरह, ज वाहियइ त सारु ।।
सा सुक्कतइं जगु मरइ, ते वीरडी म सुक्क ।
इक्कु मरतइं सु मरइ, वरिसउ मरउ म इक्क ।।

(रत्नश्रावकप्रबन्ध, पृ० ६५)

चारण —

जीतउ छहिं उणेहिं, साभली समहरि वाजियइ ।
बिहु भुजि वीरतणेहिं, चिहु पगि ऊपरवटतणे ।।

(वस्तुपालप्रबन्ध', पृ० १०४)

वरि वियराजहिं जणु पियइ, घुटुटुगघुटु चुलुएहिं ।
सायरि अत्थि बहुत्त जलु, छि खारा कि तेण ।।

(व०, पृ० १११)

## सोमतिलक सूरिकृत कुमारपाल प्रतिबोध

काजु करेवा माणुसह, बीजु मागु न अत्थि ।
कइ आपणि पणु थाईइ, कइ पहु कीजइ हत्थि ।। पृ० १८

इक्कह फुल्लह माटि, दे[1] इ जु नर सुर सिव सुह[2]।
तिणिम्यू[3] केही साटी[4], कटरे भोलिम जिणवरह[5] ॥ पृ० २४

समयज्ञस्तदोवाच चारणवाक्यचातुरः, पृ० १०७

मागधोऽभणत्—

एह न होइ घर धार सार परमार नरिन्दह।
एह न होइ उज्जेणि जु पइ भजीय बल चंडह।
मंडव गढ़ नहु एह जु पइं अभिवर धंघोलीय।
उच्चमाण नहु एउ जु पइ निय भुयबलि तोलीय।
नागपुरह एहु चालुक्कवइ जड वेढिउ दहदिहि घणु।
ता नमइ न कुमर मंडलीय बालएक्कु भमुहह तणुं ॥ पृ० २६

चारण—

पुट्ठा उट्ठिहि फेरु फिर तु दिणयर देउ जिम।
जय कंचणगिरि मेरु कुमरह कुमरप्पाल तिम ॥ पृ० २६

जइ जिप्पइ ता मडलीय, जिणहि त गुज्जर राउ।
तुहु कुमरु यह कुमरप्पालु, दुन्निवि होहु किमाउ ॥ पृ० २६

चारण—

गया जि साजण साथि, करि पइठा वइरी तणइ।
कुमरपालति हाथि अवसु ति अवसरि बाहुडिइं ॥ पृ० २६

चारण—

गड फुट्टूं वेयण गई, विग्गहि लया गइंद।
मत्तउ चालू चक्कवइ, निरभर आवइ निंद ॥ पृ० ३०
वलीउ भूयवइ ज करइ, तं सहु करणह जुत्तु।
माडवि जग सरिस्यू वयरा काडं सूइ निच्चत ॥ पृ० ३०

## पुरातन पद्य-प्रबन्ध

वसीलपरणे—

एक्कह पाली माटि, वीसलस्यउ भूगडउ कियउ।
कुमरपालरय हाटि, बीजो वार कु वहुरिस्यइ ॥ पृ० ८

---

[1]देयइ [2]सुएह [3]एही करइ [4]जु [5]जिनवर तणी।

## पुरातनाचार्य० प्रबन्धे

सउ चितहं सट्ठी मराहं, पंचासडी होयाइं ।
ग्रम्मी ते नर ढट्ठसी, जे पत्तिजइ ताइ ।। प० ४६
पाहियी सवि वकडी, निमुपत्तिज्जि तास ।
नीयसिरि घडउ वडादि करि, पकइं दिइ जे पास ।।

रामचंद्र चारण—

काहूं मति विभंतड़ी, ग्रजीय मणिग्रड़ा गुणेह ।
ग्रखय निरंजण परम पथा, ग्रजय जय न लहेह ।। प० ६३
हेमसूरि मू करि किसिउं, हरडइ कांइ रडेइ ।
जिणि कारणि हूं षा लिपउ, सव्वह वंजण छेहि ।। प० ६०
ग्रम्हे थोड़ा रिपु घणा, इय कायर चितंति ।
मुद्ध निहालउ गयणयलु, के उज्जोउ करंति ।। पृ० ६६
साहस जुत्तउ हल वहइ, दइवह तइण कगालि ।
सडिम खूटा टालि, खूटा विण खीजइ नही ।। प० ६६

चारण—

कुमरउ[1] कुमर विहार, एता कांइ कराग्रीया ।
ताहं कु करिसइ सार, सीष न ग्रावइं सयं धणी ।। पृ० ११०

## उपदेशतरंगिणी

चारणोक्त—

समयः—जगडूशाह वीसलदे । तत्र चारणोक्तिः—
वीसलदे विरुउ करइ जगडू कहावइ जी ।
तु परीसइ फालिसिउ एउ परीसइ घी ।। ११६ ।। पृ० ४२
समय—खगार राजा जूनेगढ का, दूमण चारण.—
जीव वधन्ता नरय गइ, ग्रवधन्ता गइ सग्गि ।
हुं जाणु दुइ वट्टडी, जिणि भावं तिणि लग्गि ।। १४२ ।। पृ० ४८

सिध्दराजे चारणोनोक्तम्—

को जाणइ को नाह चिन्तु तुहारउ चक्कवइ ।
लहु लंकह लेवाह मग्ग निहालइ करणउत्त ।। १६५ ।। पृ० ६३
घाइ धोया पाय जयसिंह जलनिहि ताह ।

रातइ गहिआ सविराय इक्क विभीषण मिल्हिमइ ॥ १६६

सो जयउ कूडगंधो तिहुअणमज्झंमि जेसलतरिन्दो ।
छित्तूण रायवंसे इक्कं छत्तं कयं जेण ॥ १६७

एकदा समाया सिध्दराजेन स्वमूंछायां करगृहीतायां ।

आमकविः प्राह—

डरिगइन्द डगमगिय चंद करमिलिय दिवायर,
डुल्लिय महि हल्लियइ मेरु जलझंपिअ सायर ।
सुहडकोडि थरहरिय कूरकूरम कडविकअ,
अनलविनल घसमासिम पुहवि सहु प्रलय पलट्टिय ।
गज्जंति गयण कवि आम भणि सुरमणि फणमणि इक्क हूअ,
मागहि हिमगहि ममगहि मगहि मुंच मुंछ जयसिंह तुह ॥ २०२

वरसइ चऊद चुंआल धम्मसइं सतर निरंतर,
सय पुत्तलीय अढार जडीमणि माणिक रयंवर ।
तीस सहस धनदण्ड कलस दस सहस्स सुवन्नय,
छप्पन्न कोडि गय तुरिय लग्ग तिणि रुद्द महालय ।
कविगइ सद्द इम उच्चरइ सुरनर रोमञ्चिय सवइ,
सुपसिद्धिखित्ति जयसिंह कित्ति टगमग चाहइं चक्कवइ ॥ २०३

आमभट्ट—

रे रक्खइ लहु जीव वडविरणि मयगल मारइ,
न पीइ अणगल नीर हेलिरायह सहारइ ।
अवरन बंधइ कोइ सधर रयणायर बंधइ,
परनारी परिहरइ लच्छि परराय्ह रूधइ ।
ए कुमरपाल ! कोपि चडिउ फोडइ सत्त कडाहि जिम,
जे जिणधम्म न मन्निसिइं तीहवी चाडिसु तेम तिम ॥ २०४

कुमारपाले चारणोक्ति—

कुमारपाल! मत चिंत करि, चिंतिउ किंपि न होइ ।
जिणि तुझ राज समप्पिउ, चिन्त करेसि सोइ ॥ २०५

इक्क कंत मरि जाइ नारि चुक्कइ आभरणह,
घटजुअल अवहारि नारि बोली नीझरणह ।
पयडिय विहवा सद्द सयल मगल्ल टालिज्जइ,
मानभंग तस होइ देह दुव्वयणे दज्झइ ।
एतला दइ दुक्ख गिरि पडइ अनइ धन जाइ नरिंद घरि ।
कुमर नरिंदरवन्तो मइ लच्छी मुक्कि पसाउ करि ॥ २१६

चन्दि दीवउ धरणि परलंक तृण पूलक संथरइ ईंट खंडउ सीस दीज्जइ ।
मरूघरि प्रिय न पाहुणउ सज्जण न वारि वाइट्ठ ।
तुज्झ पसाइ रंडपणु एह अवत्था दिट्ठ ॥ २२०

नागिल चारणोक्ति—

हेम तुहारा करमऊं जाह अनंती ऋद्धि ।
ए चाप्या नीचामुहा तांह ऊपहरि सिद्धि ॥ २२१

हट्टोपविष्ट चारणेनोक्तम्—

भल्लउ पारिसनाथ जइ एहवउ जाइमि ।
महसिइ सेवइसाथ कुमरनरिंदह बाहिरउ ॥ २२२

उदयसिंह (गोपगिरि के लाखणसिंह पुत्र) चारणेन वर्णित—

सुन्दर मर असुराह दलि जल पीधउं वयणेहिं ।
उदयनरिंदहि कड्ढीउं तोह नारीनयणेहिं ॥ २२६

मंत्री विमलदंडनायक (स० १०८८) चारणवचनम्—

मडी मरदी न्इ करइ मिल्हीअ मंमणाह ।
विमलहिं लइउं कड्ढीउ नट्ठउ बालीनाह ॥ २३०

वस्तुपाल; समय—अनुपमसर के सरितमहोत्सव पर
चारणेनोक्तम्—

भाऊ भरहिं काइ सेत्तुजि सरन करावउ ।
जाणू हु इणइ ठामि आगइ अणुपमडी कीउं ॥ २५४

### सामान्या.

पत्त परिक्खह कि करह दिज्जइ मग्गंताह ।
कि वरिसन्तो अम्बुहर जोइ समविसमाइ ॥ ४१

उत्तर—वरिसउ वरिसउ अम्बुहर वरसीदां फल जोइ ।
धन्तूरह विस इक्खुरस एवड अन्तर होइ ॥ ४२

भावण भावद हरिणलो नयणे नीर झरन्त ।
मुणि वहरावत करि करी जइ हु माणस हुन ॥ ६४

बालउ दाखउ मुह पर विरत्तउ हुउ ह्वाग ।
निगि दीधइ हूइ कवण गुण ज फल देइ पलास ॥ ८६

जीव दया गुणवेलडी रोपी रिसहजिणन्द ।
श्रावककुलमंडप चढी सींची कुमरनरिंद ॥ १०७

नउकरवाली मणियडा ते अगीला च्यारि ।
दान सात जगडूतणी दीसइ पुहवि मझारि ॥ ११८

कलिहिवोर जि बीणती अज्ज न जाणइ खव्व ।
पुणरवि अडविहिं करी सुघर न सहु एह अगव्व ॥ १३७

भोजराज गलि कठलउ कहि किसिउ पडिहाइ ।
उरि लच्छी मुहि सरसई सोमविह विभ्रराइ ॥ १६१

कुआकण्टइ मत्थरउ उरि जनोई गलि हत्थ ।
तइ रट्ठइ धारह धणी नयरी एह अवत्थ ॥ १६२

पढन गुनन कवि चातुरी है सब बात सहल्ल ।
मदन दहन मनवसिकरन गगन चलन मुसकिल्ल ॥ १६

महिला कूडचरित्त बभ पुण पार न जाणइ ।
दिनि डरपइ दोरड्डू रयणि विसहरफण मोडइ ॥

उदरि दिट्ठइ उव्वसइ कानि घरि बाघ जिरालइ ।
उवरि चढति ढलि पडइ चढि डूगरिय गिआलइ ॥

सात समुद्र लीला तरइ मुत्रकीनइ बुड्डवि मरइ ।
राम कवीसर इम कहइ स्त्रीविश्राम मति को करइ ॥ २१

मोली तुट्टवि किं न मुउ किं न हुवइ छारह पुंज ।
घरि घरि भिक्ख भमाविइ जिम मक्कट तिम मुंज ॥ २३

धनवन्ती मत गव्व करि पिक्खवि पंकउन्नाइ ।
चऊरहसय छहुत्तरा मुंज गइन्द गयाइ । २२
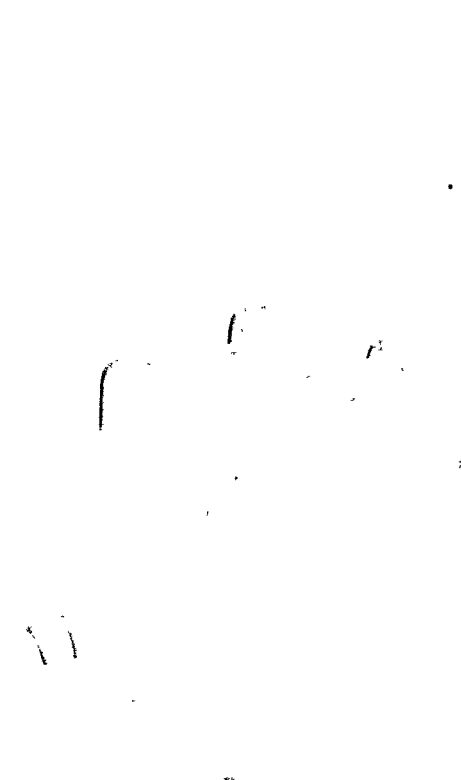
# प्रारम्भिक राजस्थानी गद्य साहित्य

श्री सीताराम लाळस

विद्वानों ने प्राचीन एवम् आधुनिक भाषाओं के अध्ययन मे राजस्थानी को भी पर्याप्त महत्व दिया है, किन्तु उनका यह आधार राजस्थानी की काव्यगत विशेषताओ तक ही सीमित रहा। गद्य की दृष्टि मे भी राजस्थानी एक समृद्ध भाषा है, इस तथ्य की ओर सम्भवतया उनका ध्यान ही नही गया। राजस्थान के विद्वानो ने भी इसे प्रकाश मे लाने का कोई विशेष प्रयास नही किया। यहां के अधिकांश आधुनिक विद्वानों ने भी सम्भवत. भाषायी एकता को पुष्ट करने की दृष्टि से अथवा किन्ही अन्य कारणो से प्राय: हिन्दी भाषा मे ही गद्य निर्माण किया है। इसका परिणाम राजस्थानी के लिए अत्यन्त हानिकर सिद्ध हुआ है। तत्कालीन राजभाषा आयोग ने अपने प्रतिवेदन में राजस्थानी को स्वतंत्र प्रातीय भाषा के रूप में स्वीकार नही किया, यद्यपि इस प्रतिवेदन के पहले बड़े-बड़े भाषाविद् राजस्थानी को एक स्वतंत्र भाषा के रूप मे स्वीकार कर चुके हैं।

सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने 'लिग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया' में राजस्थानी को एक पृथक साहित्यिक भाषा के रूप मे स्वीकार किया है। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या[1] तथा डॉ० एल. पी. तैस्सितोरी ने भी इसे केवल बोलियों का समूह न मान कर हिन्दी से स्वतन्त्र एव भारतीय आर्य-भाषाओ के परिवार की एक समृद्ध भाषा माना है।

---

[1] 'वस्तुत. भाषा-शास्त्र की दृष्टि से विचार किया जाय तो ,राजस्थानी, कोसली या अवधी, भोजपुरी या मैथिली आदि बोलिया नही, भाषायें ही हैं।'—राज भाषा आयोग का प्रतिवेदन, पृ० २३८।

हमारा उद्देश्य इस विवाद में पड़ने का नहीं है। तथापि यह निस्संदेह सत्य है कि राजस्थानी में विपुल काव्य-निधि के अतिरिक्त गद्य साहित्य की परम्परा भी बहुत प्राचीन एवम् समृद्ध रही है।

इसके समुचित प्रकाशन एवम् अध्ययन के अभाव में ही प्राय: लोगों की इस प्रकार की धारणा-सी बन गई है कि राजस्थानी मे गद्य साहित्य नगण्य अथवा गौण है। आधुनिक युग में राजस्थानी गद्य की स्थिति बड़ी चिंतनीय रही है, इसे राजस्थानी साहित्य की सेवा करने वाले लेखको ने भी अनुभव किया है। यद्यपि इस स्थिति मे अब बहुत अन्तर आ चुका है, कई व्याकरण प्रकाशित हो चुके हैं, कोश का निर्माण भी हो चुका है, राजस्थान निवासी अपनी भाषा की रक्षा के प्रति अधिक जागरूक है, राजस्थानी की सूक्ष्म बारीकियों का अनुसंधान किया जा रहा है, एवम् उस पर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किए जा रहे है, और आधुनिक लेखक भी इसी भाषा मे कहानी, उपन्यास आदि लिख रहे हैं।

जो लोग राजस्थानी के सम्बन्ध में यह भ्रामक धारणा रखते है कि राजस्थानी का अर्थ विभिन्न बोलियों का समूह मात्र है तथा उसमे गद्य का एक-स्तरीय रूप नही है, उनकी यह धारणा प्राचीन राजस्थानी गद्य (ख्यात, बातें) का अध्ययन करने पर अवश्य मिट जानी चाहिये। मुहणौत नैणसी जालोर का निवासी था, कविराजा बांकीदास जोधपुर के रहने वाले थे, दयाळदास ने अपनी ख्यात बीकानेर मे बैठ कर लिखी थी और कविराजा सूर्यमल बून्दी के निवासी थे। किन्तु इनके लिखे गद्य मे विशेष अन्तर नही है। राजस्थानी भाषा की एकरूपता का इससे बढ कर अन्य कौनसा प्रमाण हो सकता है।

आज के साहित्य मे गद्य की प्रधानता है, किन्तु प्राचीन साहित्य मे गद्य का ऐसा प्रचलन नही था। राजस्थानी मे गद्य का प्राचीन रूप मिलता है, किन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वह साहित्य का उतना प्रभावशाली वाहन नही रहा जितना कि पद्य।

राजस्थानी गद्य के विकास पर दृष्टि डालते समय हम विषय-क्रम (यथा-ख्यात, बात आदि) का वर्गानुसार उल्लेख न करके काल-क्रमानुसार ही विकास-क्रम का विवेचन करेंगे।

चौदहवी शताब्दी से राजस्थानी गद्य-रचना की परम्परा स्पष्ट रूप से देखने मे आती है। गद्य लिखने की परम्परा इससे भी प्राचीन अवश्य थी पर उसके

उदाहरण बहुत अल्प मिलते हैं ।[1] चौदहवी शताब्दी के प्राचीनतम गद्य के दो उदाहरण हमें उपलब्ध है । पहला उदाहरण एक गोरखपंथी गद्य ग्रन्थ मे मिलता है । हिन्दी साहित्य के सभी इतिहासकारों ने गोरखपंथी की रचना के रूप मे निम्नलिखित अवतरण उद्धृत किया है—

'श्री गुरु परमानन्द तिनको दंडवत है । हैं कैसे परमानन्द ग्रानन्द स्वरूप हैं सरीर जिन्हि को । जिन्ही के नित्य गायें तें सरीर चेतन्नि ग्ररु ग्रानंदमय होतु है। मैं जु हौ गोरिख सो मछंदरनाथ को दंडवत करत हौं । हैं कैसे वे मछंदरनाथ । ग्रात्मा ज्योति निस्चल है ग्रन्त:करन जिनिको ग्ररु मूल द्वार तें छह चक्र जिनि नीकी तरह जानै । ग्ररु जुग काल कल्प इनिकी रचना तत्व जिनि गायौ । सुगंध को समुद्र तिनि को मेरी दंडवत ।। स्वामी, तुमें तो सतुगुरु ग्रम्है तो सिस सब्द एक पूछिवो, दया करि कहिवो, मनि न करिवो रोस ।'

उपरोक्त अवतरण मे 'पूछिवो' 'कहिवो' 'करिवो' ग्रादि के प्रयोगों के कारण इसके रचयिता को ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने राजस्थान का निवासी माना है ।[2] पूर्वी राजस्थान मे ग्राज भी क्रियाग्रों के ग्रत मे 'वो' लगाने की प्रथा है। किन्तु इन्ही प्रयोगों को देख कर कुछ बगाली विद्वानो ने ग्रनुमान किया है कि इसकी भाषा पर पूर्वी बगाल की भाषा का प्रभाव पड़ा है । नाथपंथी साधक प्राय देशाटन करते रहते थे । ग्रत: उनकी भाषा पर ग्रनेक स्थानो की भाषाग्रों

---

[1]शिलालेख, ताम्रपत्र ग्रादि के रूप में कही-कही प्राचीन राजस्थानी गद्य के नमूने ग्राज भी उपलब्ध होने हैं। यहाँ एक १३वी शताब्दी का शिलालेख प्रस्तुत कर रहे हैं जो बीकानेर के नाथूसर गांव मे उपलब्ध हुग्रा है ।

प्रलेख का मूल पाठ—

पक्ति-१—समत १२८० वेरम्वे मती माह सुद्ध २ राग—

,, २—ड कुसलो गारधनत काम यायो छं गा धनंस—

,, ३—मर माह. रगड कुमलो रणधीर त भुभार.

,, ४—हवा छं पाता ग्ररपीयो रै वैरे महे कम या—

,, ५—या भटी कस(ल) मंघ धनराज तरं म

,, ६—ह दऊ ।। काम यया छ ।

—'वरदा' पृष्ठ ३, वर्ष-४, ग्रंक ३

[2]हिंदी साहित्य का इतिहास—ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल ।

का प्रभाव पड़ना सम्भव है। अधिकतर विद्वानों ने उपरोक्त अवतरण को ब्रजभाषा का नमूना माना है। वास्तव में यह ब्रजभाषा का ही उदाहरण है। प्राचीन राजस्थानी मे वाक्यों का सगठन इस ढंग का नहीं मिलता।

चौदहवीं शताब्दी का एक और गद्य का उदाहरण श्री मोतीलाल मेनारिया ने प्राचीन राजस्थानी गद्य के नमूने के रूप मे अपनी 'राजस्थानी भाषा और साहित्य, नामक पुस्तक में उद्धृत किया है—

'ज्ञानाचारि पुस्तकं पुस्तिका संपुट संपुटिका टोपणां कवली उतरी ठवणी पाठा दोरी प्रभृति ज्ञानोपकरण अवज्ञा, अकालि पठन अतिचार विपरीत कथनु उत्सूत्र प्ररूपणु अश्रद्धधांन—प्रभृतिकु आलोयहु।'—आराधना[1] (सवत् १३३०)

उपरोक्त अवतरण भी राजस्थानी भाषा का उदाहरण नही माना जा सकता। यह तो परवर्ती प्राकृत एवं अपभ्रंश का रूप है, जिस पर संस्कृत का भी प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

श्री संग्रामसिंह द्वारा रचित 'बाल शिक्षा व्याकरण' में भी राजस्थानी गद्य के उदाहरण पाए जाते हैं। इस ग्रन्थ का रचनाकाल संवत् १३३६ है। यद्यपि यह संस्कृत व्याकरण का ग्रन्थ है तथापि समझाने के लिए इसमें राजस्थानी गद्य के शब्द-समूह का प्रयोग किया गया है।

पद्य की तरह राजस्थानी गद्य के भी प्रारंभिक विकास मे जैन विद्वानो का विशेष हाथ रहा है। सवत् १४११ के गद्य का एक उदाहरण एक जैन आचार्य द्वारा लिखा मिलता है। इसे राजस्थानी गद्य के नमूने के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

'ग्रामि एक अति दरिद्रता करी दुक्खित डोकरी एक हूंती। हंसउ इसइ नामि तेहनउ दीकिरउ एकु हुंतउ। सु आजीविका कारणि ग्राम लोक तणा वाछरू चारतउ। अनेरइ दिनि संध्या समइ उद्यान-वन हूंतउ वाछरू ले आवतउ हूंतउ मु सर्पि डसिउ, मूर्च्छा आवी; विहाईजि महाविखवेग संगनु हूंतउ हेठउ ढलिउ। जिम काश्तु निस्चेस्टु हुयइ निम थाई मही पीठि पड़िउ। किणिहि एकि ग्राम माहि आवो करि डोकरि आगइ, कहिउ—ताहरउ दीकिरउ सरपि डसिउ। बाहिरि अचेतनु थाई पड़िउ छइ।'—तरुणप्रभाचार्य[2] (संवत् १४११)

---

[1]प्राचीन गुजराती गद्य-सदर्भ—मुनि जिनविजय, पृष्ठ २१८-२१९

[2]'षडावश्यक बालावबोध'—रचयिता खरतरगच्छाचार्य तरुणप्रभ सूरि, सवत् १४११

पन्द्रहवीं शताब्दी में राजस्थानी गद्य में दो प्रकार की लिपि का प्रयोग होता था। पहले प्रकार में महाजनी लिखावट होने से मात्राओं आदि का बहुत कम प्रयोग किया जाता था। राव चून्डा के समय का (वि० स० १४७८) एक ताम्रपत्र वड़ली ग्राम में प्राप्त हुआ है। इसमें तत्कालीन महाजनी लिखावट का प्रयोग किया गया है—

श्री राव चूडाजी रो दत बडली गाव।
प्रोयत मादा नै दीधो संवत् १४ व .
रस आठतरो काती सुद पूनम रै।
दिन वार सूरज पुस्करजी मार्य।
पुण्यारथ कीदो महाराज चूडाजी।
दुवो तेवीस हजार बीगा जमीनी।
म समेत ईस्वर प्रीतये
गांव दीधो हिन्दू नै गऊ मुसलमा
सूर माताजी चामुडाजी सूं बेमुख
आल-औलाद अणारी कोई गोती पोती।
ईस्वर सूं बेमुख प्रोयत सादा नै।[1]

दूसरे प्रकार की लिपि काफी साफ-सुथरी और स्पष्ट होती थी।

शैली की दृष्टि से भी यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आगे जाकर गद्य की दो प्रमुख शैलियाँ बन गई थीं—जैन शैली तथा चारण शैली। इस समय का एक विशिष्ट ग्रंथ 'पृथ्वीचंद चरित' अपर नाम 'वाग्विलास' जैनाचार्य माणक्यसुन्दर सूरि द्वारा रचा हुआ मिलता है। इसका रचनाकाल संवत् १४७८ है। इसमें वर्णन बड़ा सजीव, कथात्मक एव महत्वपूर्ण है। लोक-भाषा में वर्णनों का ऐसा सुन्दर संदर्भ ग्रंथ सम्भवतः अन्य नहीं है। इसमें पृथ्वीचन्द्र के चरित्र की अपेक्षा वाग्विलास रूप-चमत्कारिक वर्णनों की ही प्रधानता के कारण रचयिता ने ही सार्थक नाम 'वाग्विलास' स्वय रखा है। ग्रन्थ प्राय तुकान्त गद्य मे लिखा गया है, जिसे पढ़ते समय काव्य का सा आनन्द प्राप्त होता है। उस समय में ऐसे ग्रंथ का निर्माण वास्तव में राजस्थानी गद्य साहित्य की समृद्धि का महत्वपूर्ण उदाहरण है। ग्रन्थ की भाषा भी अपेक्षाकृत परिमार्जित एव सुन्दर है। उदाहरण के रूप मे एक-दो वर्णन देखिये—

---

[1] मारवाड का इतिहास, प्रथम भाग, लेखक—विश्वेश्वरनाथ रेऊ, पृष्ठ ६५ से उद्धृत।

मरहट्ठ देस वरणण—

'जिण देसि ग्राम अत्यन्त अभिराम। भलां नगर जिहा न मागीयइ कर। दुरग जिस्यां हुई स्वरग। धान्य न निपजइ सामान्य। आगर, सोना, रूपा तणा सागर। जेइ देस माहि नदी वहीइं, लोक सुखइ निरवहइ। इसिउ देस पुण्य तणउ निवेस गरुअउ प्रदेम। तिणि देस पइठाणपुर पाटण वरतइ, जिहां अन्याय न वरत्तइं। जीणइ नगरि कउमीसे करो सदाकार पाखलि पोढउ प्राकार, उदार प्रतोली द्वार। पाताल भणी षाई, महाकाय खाइ, समुद्र जेहनु भाई। जे लिइ केलास परवत सिउवाद, इस्या सरवम्य देव तणा प्रासाद। करइ उल्लास, लक्षेस्वरी कोटिध्वज तणा आवास। आणदइ मन, गरुड राजभवन। उपरि अखण्ड सुवरणमय दण्ड, ध्वजपट लहलहई प्रचण्ड।'

वास्तव में राजस्थानी साहित्य की उत्पत्ति और विकास में जैन धर्म का बहुत हाथ रहा है। विकासोन्मुख राजस्थान का प्राचीन रूप हमें उस समय के जैन आचार्यों की भाषा में मिलता है। इस पर विशेष कर नागर अपभ्रंश का अधिक प्रभाव है। वाग्विलास के सात-आठ साल बाद ही सवत् १४८५ में हीरानंद सूरि द्वारा लिखा गया 'वस्तुपाल तेजपाल रास' नामक ग्रन्थ की भाषा से यह स्पष्ट हो जाएगा—

'इसउ एक श्री सत्रुंजय तणउ विचारु महिमा नउ भण्डरु मंत्रीस्वर मन माहि जाणी उत्सरंग आणी। यात्रा उपरि उद्यम कीधउ, पुण्य प्रसादन नउ मनोरथ सिधउ।'

इस समय की भाषा के 'कीधौ' (कीधउ) 'सिधउ' आदि रूप विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। 'उ' का प्रयोग प्राय शब्दांत में प्रचुरता के साथ मिलता है।

इस समय मे अनेक जैनेतर (चारण शैली) रचनाओं का भी निर्माण हुआ है। सवत् १४८५ मे रची गई 'अचळदास खीची री वचनिका' इनमें प्रमुख है। इसके रचना-काल के विषय मे विद्वानों में मतभेद है। श्री अगरचंद नाहटा एवं श्री मोतीलाल मेनारिया ने इसे पंद्रहवी शताब्दी का ग्रथ माना है। श्री मेनारिया ने इसका रचना-काल स्पष्ट रूप से १४८५ ही दिया है।[1] परंतु डॉ० रामकुमार

[1] राजस्थानी भाषा और साहित्य—प० मोतीलाल मेनारिया, पृ० १००।

वर्मा ने संवत् १६१५ माना है।[1] हमारे दृष्टिकोण से इस ग्रंथ की रचना संभवत. पंद्रहवीं शताब्दी में ही हुई हैं। डॉ० तैस्सितोरी का मत भी इसी का समर्थन करता है।[2] इसका रचयिता शिवदास चारण कवि था। उसने इस ग्रंथ में गागरौन के खीची शासक अचळदास की उस वीरता का वर्णन किया है जो उन्होंने मांडव के पातिशाह के साथ युद्ध में दिखलाई थी। उस युद्ध में अचळदास वीरगति को प्राप्त हुए। शिवदास ने यह सब आँखों-देखा वर्णन किया है। ग्रंथ में पद्य के साथ-साथ वात रूप गद्य भी पाया जाता है। यह गद्य सर्वत्र तुकांत नहीं है। उस काल की रचना का यह अच्छा उदाहरण है।

'तितरइ वात कहतां वार लागइ। अस्त्री जन सहस चाळीस कउ सघाट आइ संप्राप्ती हुवइ छइ। वाळी-भोळी अबळा-प्रउढ़ा सोडस-वारखी-राणी रवताणी वहदा-वहदी हो आपणा देवर जेठ भरतार का सत देखती फिरइ छइ।'

इसके अतिरिक्त इस ग्रंथ में तुकात गद्य का भी उदाहरण मिलता है जो काव्य का सा आनन्द देता है—

'पगि पगि पउलि पउलि हस्ती की गज घटा, ती ऊपरि सात-सात सइ धनकधर सावठा। सात-सात ओलि पाइक की वइठी, सात-सात ओलि पाइक की उठी। खेडा उडण मद फरफरी चुहच की ठाइ ठाइ ठररी इसी एक त्यापट उडि चत्र दिसी पड़ी, तिण वाजि तकइ निनादि घर आकास चडहडी। वाप वाप हो! थारा आरंभ पारभ लागि गढ लेयण हार किना। वाप वाप हो! थारा सत तेज अहंकार, राइ द्रुग राखणहार।'

संवत् १५१२ में कान्हडदे प्रबंध की रचना हुई। इसमें भी पद्य के बीच-बीच में कहीं-कहीं गद्य मिलता है—

'वाघवालिया च्यारि च्यारि विलगा छइ। किरि जाणीइ आकासि तणा गमन करसि। अथवा पाताल तणा पाणी प्रगटावसि। ते घोड़ा गगोदकि स्नान कराव्या। तेह तणि सिरि श्री कमलि पूजा कीधी। तेह तणि पूठि बावनो चंदन

---

[1] हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १७८।

[2] A descriptive Catalogue of Bardic and Historical Mss Pt. J. Bikaner State, Fasc 1., P. 401

तरणा हाथो दीधा। तेह तरिण पूठि पंच वर्ण पाखर ढाली। किसी पखर—रणपखर, जीणपखर, गुडिपखर, लोहपखर, वानलीयालीपखर।'

उस समय की साहित्यिक भाषा एवं बोलचाल की अथवा ताम्रपत्रों की भाषा मे पर्याप्त अंतर दृष्टिगोचर होता है। संवत् १५१६ मे जोधपुर के महाराजा राव जोधाजी ने श्रीपति के पुत्र रिषभदेव को, जो जाति का सारस्वत ब्राह्मण था और जिसका अनटंक ल्होड़ ओझा था, पुरोहितपन का ताम्रपत्र कर दिया था। उस ताम्रपत्र मे उस काल की भाषा पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है—

'महाराजजी श्री जोधाजी वचनायते तथा कनोज सूं सेवग लूंब रिसी जातऐ सारसुत ओजो ल्होड मेवा लेनें आयो सु राठौड वंस रा सेवग ऐ है। ठेट् कदीम सूं मुलगायां रो सेवगपणो इणा रो है। पहरी वंस रै माता जी श्री आदपखणीजी चक्रेस्वरीजी पछै राव श्री धूहडजी नू वर दीधो नै नाग रा रूप सूं दरसण दीधो तरै नागणेचियां वहांणी सु धूहोड़जी रो तांबापत्र ओझा रिषभदेव श्रीपत रा बेटा कनै थो सु वाचनें में ही तांबापत्र कर दीधो इण मुजब राठौड वस रो सवगपणो रो लवाजमो जाया परणियो नेग दापो राजलोक रावळे करै सु वरत वडुलियो सरवेत रणां रो नेग है नै राठौड वंस गोतमस गोत्र अकरूर साखा री लार इतरा जगा छै। पीरोत सेवड ओजा सेवग लोड मथरेण रुदर देवा। सो देम परदेस मांहरी आल ओलाद पोढी दर पीढी ओजा रिषभदेव रो[1]।'

मुसलमानी शासन के कारण अरबी-फारसी के भी कई शब्द बोलचाल की भाषा मे प्रवेश पा गए हैं। उपरोक्त ताम्रपत्र मे भी कदीम, लवाजमो, आल-औलाद आदि शब्दों का प्रयोग विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

श्री मेनारिया ने 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' मे सवत् १५३२ के लगभग लिखे गए एक ताम्रपत्र का उल्लेख किया है—

'धरतो वीघा तीन सै सुर प्रव मे उदक आघाट श्री रामार अरपण कर देवाणी सो अणी जमी री हासल भोग डंड वराड लागत वलगत कुडा नवाण रुख वरख आबा महुडा मेर को खडम सरब सुदी थारा बेटा पोता सपुत कपुत खाया पाया जायेला।'

---

[1]मारवाड का सक्षिप्त इतिहास—ले० रामकरण आसोपा, पृष्ठ १८५ मे उद्धृत।

जैन धर्म के उद्धारक भगवान महावीर ने लोक-भाषा में अपने प्रवचन किए और परवर्ती जैनाचार्यों ने भी लोक-भाषा का सदा आदर किया और उनमें निरन्तर साहित्य-निर्माण करते रहे। अतएव लोक-भाषा के क्रमिक विकास के अध्ययन की सामग्री केवल जैन साहित्य मे ही सुरक्षित है। जैन आचार्यों ने लोक-भाषा में केवल रचनायें ही नही की, अपितु उन रचनाओं को सुरक्षित रखने का भी महान् प्रयत्न किया। जैन भंडारो में मे बहुत-से ऐसे ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं जिनकी अन्यत्र कही भी प्रतियां उपलब्ध नही होती।

जैन भण्डारों से उपलब्ध सोलहवी शताब्दी में रची गई दो-तीन रचनाओं का उल्लेख करना यहां अनुचित न होगा। जैसलमेर के जैन भण्डार से १६वीं शताब्दी के आरम्भ में लिखा गया एक विशिष्ट वर्णनात्मक ग्रन्थ अपूर्ण रूप में प्राप्त हुआ है, जिससे तत्कालीन भाषा पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इनमें से कुछ वर्णन तो संस्कृत में है किन्तु अधिकांश वर्णन राजस्थानी में ही लिखा गया है—

**रसवति वरणन—**

'उपलइ मालि प्रमन्नइ कालि। भला मंडप निपाया, पोयणी नै पानै छाया। केसर कुंकमना छड़ा दीधा। मोती ना चौक पूरचा। ऊपरि पचवरणा चन्द्रवा बांध्या, अनेक रूपे आछी परियछीना रंग साध्या। फूला ना पगर भरचा, अगर ना गध सचरचा। धान गादी चातुरि चाकला, वइसण हारा वइठा पाताळा। सारवा घाट मेलाव्या आगलि पाट। ऊची आडणी, झलकती कुंडली। ऊपरि मेलाव्या सुविसाल थाळ, वाटा, वांटली सुवरणमई कचोली। रूपा नी सीप ढूकी, इसी भांत मूकी।'

इस काल में तुकांत गद्य वाले और विशिष्ट वर्णनात्मक गद्य ग्रन्थ राजस्थान मे निरन्तर बनते रहे हैं। राजस्थानी की इस परम्परा पर संस्कृत के काव्यकार बाण की रचना में भाषा की चित्रोपमता, लय-समन्वित विचारों की नूतन परम्परा तथा अलंकरणप्रियता अधिक है। दंडी की भाषा शिष्ट, स्निग्ध एवं शान्त है। पद-विन्यास की प्रौढता अनूठी लाक्षणिकता, सजीव मूर्तिमता का समावेश, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का मनोरम प्रयोग आदि विशेषताएँ दंडी के साहित्य में बहुलता से मिलती हैं। राजस्थानी गद्य-काव्यों में भी अलंकरण-प्रियता अधिक है। संस्कृत में ऐसे गद्य के लिए जिसमें अनुप्रासों और समासों की अधिकता हो एव जिसमें पद्य का सा आनन्द आवे, वृत्तगधी का उल्लेख किया गया है। गद्य की भाषा हमारे जीवन के अधिक समीप है, अतः अत्यधिक

भावुक हृदय कविजन, जिन्हें छन्दो की कृत्रिमता प्रिय नही है, इसी के माध्यम से अपने भावो को व्यक्त करते है, किन्तु उस समय के साहित्य पर पड़ा हुआ पद्य का विशाल प्रभाव, उन्हे पद्य के समीप रहने की ही प्रेरणा देता था। अतः गद्य होते हुए भी उनके पढ़ने और सुनने में पद्य के समान आनन्द या रस प्राप्त होता है। ऐसे गद्य-काव्यों का यह निष्कर्ष निकालना ठीक न होगा कि पद्यबद्ध रचना के क्षेत्र मे असफल होने पर ही कविगण गद्य का आश्रय लेते हैं। पद्यबद्ध रचना के क्षेत्र में पूर्ण सफल व्यक्ति ही गद्य-काव्य-क्षेत्र में उतर सकते हैं। गद्य की स्वाभाविकता ने जहां लेखकों को गद्य लिखने के लिए प्रोत्साहित किया वहां पद्य की एक लय, एक ध्वनि, एक आश्चर्य की सत्ता का भी उन्होंने उपयोग किया। यह वह समय कहा जा सकता है जब कि गद्य पद्य से अलग होने का प्रयत्न कर रहा था किन्तु पद्य के प्रभाव से पूर्ण रूप से मुक्त अभी तक न हो सका था। सम्भवतः गद्य-काव्यो की इतनी प्राचीन परम्परा आधुनिक समय मे प्रचलित अन्य भाषाओं मे नही मिलती।

सोलहवी शताब्दी के उत्तरकाल में निर्मित दो और पद्यानुकारी कृतियों का उल्लेख हम यहां कर रहे हैं। ये दोनों राजस्थानी साहित्य-सग्रह भाग १ में प्रकाशित हो चुकी हैं।[1] जैसा कि हम लिख चुके हैं, ये रचनाएँ गद्य में होने पर भी पद्यात्मक शैली से प्रभावित है—

१. 'पहिलउ दामा-पुरोहित तणी नगरी श्री तिमरो आविया पइसा रा मोटइ मडाण कराविया, जागी ढोल झालरि सखि वादित्र बजाविया, विहु पासे पटकूल तणा नेजा लहकाविया, पगि पगि खेला नचाविया, तणिया तोरण बधाविया। गीत गान कीधा प्रून कळस सूहव सिरि दीधी; भला मगळीक कीधा। घरि-घरि गूडी ऊछळी, श्री सघ तणी पूगो रळी। दाहो तरसौ वरसा तणी काण भागी, पुण्य तणी वेली वधिवा लागी। सरव..... का भेळउ हुयउ। अभंग जोडी वडा बंधव श्री सूजा सहित राउल सातल वणविनउ सोभइ।'

---

[1] ये दोनो रचनाएँ सवत् १५४८ एवम् १५६६ के मध्य मे रची गई हैं। पहली रचना मे जैसलमेर के राव सातल का परिचय दिया गया है, एवम् दूसरी रचना मे खरतरगच्छाचार्य श्री शान्तिसागर सूरिजी के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालने के साथ ही तत्कालीन जोधपुर नरेश की वीरता एवम् उदारता का उल्लेख है।

२. 'मिळिया ओसव'ळ श्रीमाळ ढिलीवाळ, खडेलवाळ, गुजराती, मेवाती, जैसलमेरा, अजमेरा, भटनेर, सिंधू, बहुतेरा गोडवाड़ा, मेवाड़ा, मारुआड़ा, महेवेचा, कोटड़ेचा, पाटणेचा, माडचा सोवन पाट, धवळिया मंदिर हाट, फूल बिखेरचा बाट, एकन हुवा महाजन-तणा घाट, ढमक्या ढोल-निसाण, ऊमटिया खरतर नां खुरसांण, ऊछव करइ जिणराज ठाकुर सुजाण । वाजिवा लागा तूर, ऊपना आणद पूर, भट्ट थट्ट लहइं कूर कपूर, याचक आपइ आसीस लहइं बोल बभीम, न करइ लगाइ रीस, पूगी मनइ जगीस, पूत कळस ले नारी आवइ, धवळ मंगळ गावइ, मोतिए गुरुइ वधावइ, ऊपरि अति बहुमूल, उतारइ सोवन फूल, उछाळइ चावळ, फूआ वेळाउळ, जाणिवा लागा रावळ, जिसा गयणि गाजइ बादळ, तिसा रळी रळी रणकइ मादळ, चउपट चहसाळ वाजइ ताळ कसाळ ।'

सोलहवी शताब्दी के अन्त तक आते-आते राजस्थानी गद्य कई विधाओं में प्रस्फुटित होने लगा । वात, ख्यात, पीढी, वंशावली, टीका (टब्बा, बालावबोध आदि) वचनिका, हाल, पट्टा, वही, शिलालेख, खत आदि के रूप में राजस्थानी गद्य के विभिन्न रूप देखे जा सकते हैं । आगे जाकर वात, ख्यात आदि के माध्यम से गद्य ने राजस्थानी साहित्य को अनुपम देन दी है जिसका महत्व आधुनिक भारतीय भाषाओं के प्राचीन गद्य साहित्य में असाधारण है ।

# आदिकालीन राजस्थानी दोहा साहित्य

प्रो० ओमानन्द रू० सारस्वत

दोहा : राजस्थानी साहित्य का एक अत्यन्त लोकप्रिय एव अति महत्त्वपूर्ण साहित्य-प्रकार है। अत राजस्थानी दोहा साहित्य के आदिकालीन विकास पर विचार करने के पूर्व 'दोहा' शब्द की व्युत्पत्ति, दोहे के उद्भव एवं दोहे की प्राचीनता पर अति सक्षेप में विचार करना समीचीन होगा।

**'दोहा' शब्द की व्युत्पत्ति :** अनेक विद्वानों के दृष्टिकोणो पर विचार करने के पश्चात् 'दोहा' शब्द की व्युत्पत्ति की दो संभावनाएँ उचित एव प्रमाणयुक्त लगती हैं।[1] प्रथम, व्युत्पत्तिनिमित्त के अनुसार 'दोधक' शब्द से ही 'दोहा' शब्द व्युत्पन्न हुआ उपयुक्त सिद्ध होता है। ऐसी हालत में सस्कृत के 'दोधक' छद से दोहे का सम्बन्ध होने या न होने की सभावना छोड़ कर अर्थ-परिवर्तन मानना चाहिये। दूसरे, प्रवृत्तिनिमित्त से 'दोहा' लोक भापा का शब्द और छद मानना पड़ेगा। ऐसी हालत में इसे देशज शब्द कहना ही उचित है।

**दोहे का उद्भव :** छदो की उत्पत्ति के मूल में 'लय' का होना ही सभव लगता है। दोहा अपभ्रश युग का मात्रिक छद है। इसके पूर्व सस्कृत और प्राकृत भाषाओ की प्रतिष्ठा प्रस्थापित हो चुकी थी। संस्कृत में मात्र वर्णवृत्तो का ही उल्लेख मिलता है। वहाँ मात्रिक छद नही हैं। सस्कृत मे सुभापित की भाँति सत्य को प्रगट करने वाले मुक्तक ही हैं। मुक्तको में सस्कृत का अनुष्टुप छद अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। अनुष्टुप के वाह्य आकार को देखने से स्पष्ट है

---

[1] विविध विद्वानो के मतों का खण्डन लेखक ने अपने 'राजस्थानी दोहा साहित्य : एक अध्ययन' नामक शोध प्रबन्ध में विस्तार से किया है।

कि संस्कृत का यह सुभाषित एवं अति प्रचलित श्लोक या छंद दो पंक्तियों का एवं दोहा जैसे ही बाह्यरूप का है। वेदों में भी अनेक अनुष्टुप इस प्रकार के ढूँढ़े जा सकते हैं, जिनमें दोहे के किसी चरण की समानता स्पष्टतः लक्षित है। इससे यह अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है कि इस प्रकार के छंद की ध्वनि हजारों वर्षों पूर्व की है। प्राकृत में 'गाथा' का भी इसी भांति प्रचलन हुआ। गाथा का भी बाह्य रूप दोहे जैसा ही लगता है। कालान्तर में अपभ्रंश में दोहा छंद भी इसी प्रकार प्रचलित एवं प्रिय छंद रहा। यह छंद भी अनुष्टुप एवं गाथा की भांति सुभाषित तथा मुक्तक की रचना के लिए मान्य हुआ। इससे यह एक निष्कर्ष तो सहज ही निकाला जा सकता है कि दो पंक्तियों के एक सीमित, मर्यादित एवं विशिष्ट साइज के छंद को नीति, सुभाषित या मुक्तक के रूप में सर्वमान्यता प्राप्त होती रही है। दोहा अपभ्रंश का छंद है। अपभ्रंश का काल साधारणतः तीसरी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक माना जाता है। 'अपभ्रंश' का प्रयोग पतंजलि में भी मिलता है, किन्तु वहाँ अपभ्रंश और अपशब्द पर्यायवाची हैं। लगता है उन्होंने किसी भाषा विशेष के लिए इस शब्द का प्रयोग नहीं किया। दंडी ने अपभ्रंश का प्रयोग संस्कृत के इतर शब्दों के लिए किया है।[1] अतः दंडी तक यह शब्द भाषा विशेष के लिए माना जाने लगा होगा। इस भाषा का स्वर्णयुग छठी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक मानना चाहिये। इसी बीच अपभ्रंश के अनेक मात्रिक एवं वर्णिक छंदों का प्रचलन हुआ। इस छंद के उद्भव की अनेक संभावनाएं मानी जा सकती हैं। सभी पर विस्तारपूर्वक विचार करने का अवसर यहाँ नहीं है, अतः चार संभावनाओं का उल्लेख कर के सन्तुष्ट होना पड़ रहा है—

एक—सम्भव है प्राकृत-युग में अपभ्रंश के लोकभाषा रूप के समय इस छंद को जन-समूह ने जन्म दिया हो।

दो—यदि हम अपभ्रंश भाषा के इस छंद की साहित्यिक प्रतिष्ठा में सुदृढ़ मान लें तो भी इस छंद का उद्भव काल आज से डेढ़ हजार वर्ष पूर्व से पश्चात् नहीं ला सकते।

तीन—दोहे का उद्भव भारतीय परम्परा में ही निहित है, अतः किसी विदेशी छंद से जन्म या प्रभाव होने की बात नहीं मानी जा सकती।

[1] [illegible] ६७, पृ० १११

चार—हर एक छंद की उत्पत्ति निश्चित नही है, क्योकि साहित्य में छंदो की जन्मपत्री रक्षित नही की जाती, अतः दोहे के उद्भव के बारे में भी असंदिग्ध मत निश्चित नही किया जा सकता ।

**दोहे की प्राचीनता :** दोहे की प्राचीनता के विषय मे प्रामाणिक रूप से कुछ कह सकना सभव नही है क्योकि लिखित साहित्य मे आने के पूर्व यह छन्द मौखिक साहित्य में भी अनेक वर्षो तक व्यवहृत होता रहा होगा। दोहा अपभ्रंश-युग का छन्द है, अत. अपभ्रश-युग के पूर्व या अपभ्रंश के प्रारम्भ तक तो निश्चित ही इसका प्रचलन हो गया होगा। संभावना यह है कि यह प्राकृत-युग का एक लौकिक छंद रहा होगा जो अपभ्रंश-युग में साहित्यिक रूप में प्रतिष्ठित हो गया होगा। यदि इस मान्यता को स्वीकृत कर लिया जाय तो इस छद की प्राचीनता प्राकृत युग तक हम ले जा सकते हैं ।

श्री रावत सारस्वत ने राजस्थानी साहित्य पर विचार करते हुए लिखा है कि, 'दोहा छद राजस्थानी साहित्य का सबसे प्राचीन प्रकार है जिसके उदाहरण विक्रम की दूसरी एव तीसरी शताब्दी की रचनाओ तक मे भी मिलते हैं।'[1] किन्तु लेखक द्वारा पुष्ट प्रमाणो के अभाव में इस पर टिप्पणी नही की जा सकती। पुरातत्त्वाचार्य मुनि श्री जिनविजयजी ने भी दोहो की प्राचीनता तीसरी या चौथी शताब्दी तक मानी है। उनके ही शब्दो में राजस्थानी और हिन्दी में प्रसिद्ध दोहा छद के प्राचीनतम उदाहरण मुझे तीसरी-चौथी शताब्दी की रचनाओं मे देखने को मिले।[2] मुनिजी ने भी प्रमाणो को प्रस्तुत नहीं किया है, अतः इस कथन पर भी तब तक कुछ नही कहा जा सकता, जब तक कि मुनिजी स्पष्ट प्रमाणो द्वारा विद्वानों के समक्ष अपने कथन की पुष्टि नही करते हैं। कुछ अन्य विद्वानो ने भी दोहे की प्राचीनता के सम्बन्ध मे दूसरी शती से पाचवी शती तक के अनुमान की सभावनाएँ की हैं, लेकिन ऐतिहासिक प्रमाणो के अभाव मे ऐसी सम्भावनाओ को मान्य करना सम्भव नही है ।

अपभ्रंश को 'दूहाविआ' कहा गया है।[3] इससे इतना तो स्पष्ट है ही कि

---

[1] राजस्थान भारती (बीकानेर), १।१, पृ० ३२

[2] राजस्थानी साहित्य का महत्त्व (म० सेठ रामदेव चोखानी) में उद्धृत राजस्थानी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन के सभापति पद से दिया गया मुनिजी का अभिभाषण ।

[3] हिन्दी साहित्य का आदिकाल (डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी) पृ० ६६

सिक्कों की भांति रात-भर में ढालना असम्भव है। अतः प्रारम्भकालीन अनेक दोहों में जहां अपभ्रंश के शब्द, क्रियाएँ और सर्वनाम प्राप्त होते हैं, वहाँ राजस्थानी की शब्दावली और रूपसाम्य भी देखा जा सकता है। सधिकाल में अपभ्रंश और राजस्थान प्रदेश की लौकिक या देशीय भाषा का समन्वय हुआ होगा। आज अधिकृत विवरण के अभाव में उस काल की मिश्रित या समन्वित भाषा के दोहों पर विशेष प्रकाश नहीं डाला जा सकता, किन्तु जो भी फुटकर साहित्य उपलब्ध होता है, उसके विश्लेषण करने पर स्पष्ट ही एक भिन्न रूप के जन्म का आभास दृष्टिगोचर होता है। यह भिन्नता दसवीं शताब्दी के लगभग से प्रारम्भ होती है, इसलिए राजस्थानी दोहों की शिशुवस्था का समय भी वही मानना उचित है। दूसरे, चारण और भाटों के काव्योदय का समय भी लगभग वही है।[1] जैनों ने गाथा को महत्त्व दिया, किन्तु दोहों के प्रचुर उदाहरण भी इनकी रचनाओं में दसवीं शताब्दी से निरन्तर देखे जा सकते हैं। चारणों और जैनों के साथ-साथ कालान्तर में सभी राजस्थानी कवियों ने इस छंद को अपना लिया और १६वीं शताब्दी तक यह छंद प्रायः प्रत्येक कवि के लिए अनिवार्य सा बन गया। इसलिए राजस्थानी दोहा साहित्य का इतिहास-विभाजन कुछ भिन्न रूप से होना आवश्यक है। कुछ विशिष्ट विद्वानों द्वारा किया गया राजस्थानी भाषा और साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन निम्नलिखित है।

१. डा एल. पी. टैसीटोरी ने भाषा के रूप को आधार मान कर दो स्थूल विभाजन किये हैं।[2] यथा—

(१) प्राचीन रूप सं० १३५७ से लगभग सं० १६५७ तक।
(२) नवीन रूप सं० १६५७ से आज तक।

२ डा मोतीलाल मेनारिया ने क्रम को ध्यान में रख कर चार विभाग किये हैं।[3] यथा—

(१) प्रारम्भ काल सं० १०४५ से सं० १४६० तक।
(२) पूर्वमध्यकाल सं० १४६० से सं० १७०० तक।

[1] हिन्दी साहित्य का उद्भव विकास, पृ० २१२
[2] वचनिका राठौड़ रतनसिंहजी री महेसदासोतरी, भूमिका, पृ० ४
[3] राजस्थानी भाषा और साहित्य (डा० मेनारिया), पृ० ७७

(३) उत्तरमध्यकाल सं० १७०० से सं० १६०० तक।
(४) आधुनिक काल सं० १६०० से सं० २००५ तक।

३ प्रो० नरोत्तमदास स्वामी ने क्रमिक विकास में थोड़ा अंतर मान कर तीन विभाजक रेखाएँ इस प्रकार प्रस्तुत की हैं[1]—

(१) प्राचीन काल सं० ११५० से सं० १५५० तक।
(२) मध्य काल सं० १५५० से सं० १८७५ तक।
(३) अर्वाचीन काल स० १८७५ से आज तक।

४. 'ढोला मारू रा दूहा' के विद्वान सम्पादकों ने राजस्थानी के विकास को दृष्टिगोचर रखते हुए चार भागों मे प्रस्तुत किया है।[2] यथा—

(१) प्राचीन राजस्थानी सं० १००० से १२०० तक।
(२) माध्यमिक राजस्थानी सं० १२०० से १६०० तक।
(३) उत्तरकालीन राजस्थानी स० १६०० से १६५० तक।
(४) आधुनिक राजस्थानी सं० १६५० से आज तक।

५. डिंगल के मर्मज्ञ विद्वान श्री गजराज ओझा ने भी विकासात्मक अवस्था को ही मान्य किया है, किन्तु काल का थोडा अन्तर कर दिया है।[3] यथा—

(१) आरम्भ काल स० १००० से सं० १४०० तक।
(२) मध्यकाल सं० १४०० से सं० १८०० तक।
(३) उत्तरकाल स० १८०१ से आज तक।

६. डा. हीरालाल माहेश्वरी ने अपने शोध-प्रबन्ध में बड़े सचोट एवं पुष्ट प्रमाणो के आधार पर आरम्भ के दो कालो का विभाजन निम्नलिखित रूपों मे मान्य किया है[4]—

(१) सं० ११०० से स० १५०० तक विकास काल।
(२) स० १५०० से स० १६५० तक विकसित काल।

---

[1]राजस्थानी साहित्य, एक परिचय (प्रो० नरोत्तम स्वामी) पृ० २२
[2]ढोला मारू रा दूहा, पृ० १२१
[3]नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग १४, पृ० १८
[4]राजस्थानी भाषा और साहित्य (डा० हीरालाल माहेश्वरी), पृ० २९, ३०

७. श्री पुरुषोत्तमदास स्वामी के अनुसार काल-विभाजन का निम्नलिखित रूप है[1]—

(१) प्राचीन राजस्थानी सं० १००० से सं० १६०० तक।
(२) माध्यमिक राजस्थानी सं० १६०० से सं० १९०० तक।
(३) आधुनिक राजस्थानी सं० १९०१ से आज तक।

८. डा. जगदीशप्रसाद ने अपने 'डिंगल साहित्य' में टैसीटोरी के विभाजन को सर्वाधिक वैज्ञानिक मानते हुए भी अपना अलग काल-विभाजन प्रस्तुत किया है।[2] यथा—

(१) प्राचीन काल सं० १३७५ से सं० १७०७ तक। (ईसवी सन् का परिवर्तित रूप)
(२) मध्य काल सं० १७०७ से सं० १९०७ तक।
(३) आधुनिक काल सं० १९०७ से आज तक।

९. डा. कन्हैयालाल सहल ने राजस्थानी साहित्य को शिष्ट साहित्य और लोक साहित्य इन दो विभागों में विभाजित किया है, तथा कालक्रम की दृष्टि से शिष्ट साहित्य का निम्नलिखित तीन युगों में विभाजन किया है[3]—

(१) प्राचीन राजस्थानी सं० १२०० से सं० १६०० तक।
(२) माध्यमिक राजस्थानी सं० १६०० से सं० १९५० तक।
(३) आधुनिक राजस्थानी सं० १९५० से आज तक।

मेरे विचार से ये सभी विभाजन प्रामाणिक प्राचीन पुस्तक ग्रन्थों की प्राप्ति पर आधारित हैं। दोहा मुक्तक है, अतः इसका रूप और प्राप्ति अन्य रचनाओं से भिन्न है। यह माना जा सकता है कि १४वी शती तक पुस्तक रूप में रचनाओं का अभाव है, किन्तु स्फुट दोहों का काल इसके पूर्व है। अतः राजस्थानी दोहों का इतिहास निम्नलिखित कालविभाजनानुसार सुविधाजनक एवं वैज्ञानिक कहा जा सकता है—

(१) सन्धि काल सं० ९०० से सं० १३०० तक।
(२) आदि काल सं० १३०० से सं० १५०० तक।

---

[1] नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष १४।१, पृ० २२४
[2] डिंगल साहित्य (डा० जगदीशप्रसाद) पृ० ११
[3] राजस्थानी कहावतें : एक अध्ययन, (डा० कन्हैयालाल सहल) पृ० १८६

(३) विकास एवं विकसित काल सं० १५०० से सं० १६५० तक ।
(४) पूर्व मध्यकाल सं० १६५० से सं० १८०० तक ।
(५) उत्तर मध्यकाल सं० १८०० से स० १६५० तक ।
(६) आधुनिक काल सं० १६५० से आज तक ।

इन छः विभाजनों के लिए अनेक सचोट तर्क एव युक्तिसगत प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, यहाँ पर उनका विस्तार अभीष्ट नहीं है ।[1] प्रस्तुत निबन्ध में प्रथम दो कालों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है ।

**सन्धि काल :** संवत् ६०० से संवत् १३०० तक के सन्धिकाल में राजस्थानी दोहे के आदि बीज निहित हैं । स्पष्ट है कि किसी साहित्य की विभाजक रेखा भाषावार प्रान्त-निर्माण की भाँति नही प्रस्तुत की जा सकती क्योकि एक साहित्य दूसरे साहित्य मे ढलते-ढलते दो-तीन शतो का समय तो बडी सरलता से ग्रहण कर लेता है । यही कारण है कि प्रस्तुत सन्धिकाल के साहित्य को अनेक भाषाएँ अपने सन्निहित करने का लोभ संवरण नही कर सकती । इस काल की रचनाओं को कोई पुरानी हिन्दी, पुरानी राजस्थानी या जूनी गुजराती कह देता है, वस्तुतः यह काल अपभ्रंश की परम्परा मे से अनेक देश भाषाओ के जन्म देने का काल है, अतः इसे सधिकाल कह कर पुकारना उचित ही है ।

इस काल में अनेक स्फुट दोहों का उल्लेख मिलता है, किन्तु उनके रचनाकारो पर काल रूप अधकार का पर्दा पडा है । इन फुटकर दोहों मे राजस्थानी के कालान्तर के दोहो के रूप स्पष्ट देखे जा सकते हैं । यद्यपि इस युग के दोहाकारो का नामोल्लेख करना कठिन है, तथापि दोहों की प्रामाणिकता मे सन्देह नही किया जा सकता ।

इस काल के दोहे सिद्धो, जैनो, नाथों तथा शृगारी कवियो द्वारा रचे गये हैं । दोहों में अधिकाशतः तीन वस्तुओ का वर्णन विशेष मिलता है—नीति, उपदेश और शृगार । राजस्थानी दोहा-साहित्य की वीर भावना का इस काल में प्रायः अभाव है, एक-दो स्थानो पर फुटकर रूप से वीरता आदि के दर्शन होने से वीर-भावना की प्रधानता नही कही जा सकती । दोहे के रूप के विषय मे भी कोई निश्चित उल्लेख पिंगल शास्त्रो में नही मिलता । दोहों के उदाहरणो

---

[1] लेखक ने अपने शोध प्रबन्ध में अनेक कारण प्रस्तुत किये हैं ।

से ष्ट देखा जा सकता है कि १४+१२ मात्राओं का एवं १३+११ मात्राओं का प्रयोग होता रहा है। स० ६६० मे रचित देवसेन कृत 'सावयधम्म दोहा' मे राजस्थानी दोहो के प्राचीन रूप देखे जा सकते हैं, यथा—

> दिल्लउ होहि म इंदियउ, पचहं विण्णि णिवारि।
> इक्क णिवारहि जीहडी, अण्ण पराई णारि॥[1]

प्रबन्धचिन्तामणि में उद्धृत 'लाखा' के दोहे एवं 'मुंज' की रचना भी दसवी शताब्दी की रचनाएँ होनी चाहियें, क्योकि इन दोनों की मृत्यु तिथिया क्रमश: सं०-१०३६ एवं स० १०५० मानी गई हैं।[2] अतः निश्चित ही वे दोहे इन्ही व्यक्तिविशेष की रचनाएँ हैं तो उन रचनाओ का निर्माण-काल उक्त तिथियों के पूर्व ही मानना पड़ेगा। एक दोहे का उदाहरण है—

> ऊगा तावित जहि न किउ, लखउ भणई निघट्ट।
> गणिया लब्भई दीहडा, के दहक अहवा अट्ठ॥[3]

यहाँ 'लखउ भणई' मे 'लाखा भणै' (लाखा कहता है) का स्पष्ट अर्थ है अत. प्रबन्धचिन्तामणि से उद्धृत यह दोहा उस पुस्तक याने स० १३६१ से पूर्व का तो है ही, किन्तु यदि लाखा द्वारा रचित है तो इसका समय दसवी-ग्यारहवीं शताब्दी है और यदि यह किसी अन्य कवि की रचना है तो भी 'वर्तमान-काल के अनुमान मे लाखा के जीवन-काल की रचना मानने में कोई एतराज नही होना चाहिये। इसी प्रकार 'सदेसरासक' में अब्दुलरहमान ने भी जो दोहे रचे हैं, उनमे भी राजस्थानी और अपभ्रंश की सधिस्थली का स्वाभाविक आभास प्राप्त होता है।

१२ वी सदी के योगचन्द्र द्वारा रचित 'दोहासार' मे भी अनेक दोहों को सधिकाल के दोहे माने जा सकते हैं। वज्रसेन सूरि के 'भरहेसर बाहूबलि घोर' (स० १२२५)[4] मे भी दोहों की अधिकता है और सधियुग की भाषा का स्पष्ट दर्शन है। महेश्वरी सूरि भी इसी काल का दोहाकार है।[5]

---

[1] सावयधम्म दोहा, पृ० ४०
[2] पुरानी हिन्दी (गुलेरीजी), पृ० ६१
[3] राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद, (डा० कन्हैयालाल सहल) पृ० १४
[4] शोध पत्रिका, अक ३।३, पृ० १४१
[5] ढोला मारू रा दूहा, पृ० ११६

इन ज्ञात दोहाकारों के अतिरिक्त कितने ही दोहे अज्ञातनाम दोहाकारों के प्राप्त होते हैं। सिद्धराज सोलंकी के दरबार में 'करमाणंद' नामक एक प्रसिद्ध दोहाकार के होने की भी सम्भावना की जाती है। यह अपने जोड़ीदार 'आणंद' के साथ दोहों की रचनाएँ करता था। राजस्थानी में 'दूहे करमाणंद' (करमानन्द के दोहे) प्रसिद्ध भी हैं।

इनके अतिरिक्त अज्ञात दोहाकारों के दोहे प्रामाणिक ग्रंथों में सग्रहीत भी मिलते हैं, जिनमें सन्धिकाल के दोहों का एक स्पष्ट रूप - निर्धारण करने में सहायता मिलती है। इनमें से तीन ग्रंथों का उल्लेख आवश्यक है—

१. सिद्ध हेमचन्द्रशब्दानुशासन : प्रसिद्ध जैन वैयाकरण हेमचन्द्राचार्य की यह कृति सं० ११६२ के लगभग[1] रची गई। इसमें अनेक दोहे उदाहरणस्वरूप प्रयुक्त हुए हैं। इन दोहों की दो संभावनाएँ हैं—एक तो यह कि ये सभी दोहे हेमचन्द्र पूर्व प्रचलित थे और हेमचन्द्र ने उनको उद्धृत किया। दूसरे यह भी सम्भव है कि उद्भट विद्वान हेमचन्द्र ने ये सभी दोहे रच कर उदाहरण-स्वरूप रख दिये हों। दोनों ही अवस्थाओं में दोहों का रचनाकाल सं० ६०० से सं० १००० के मध्य आसानी से स्थिर किया जा सकता है। इतने प्राचीन दोहों में राजस्थानी दोहों का एक रूप बड़ी सरलता से देखा जा सकता है। कुछ दोहे तो कालान्तर में परिवर्तित होकर राजस्थानी में अत्यधिक प्रयुक्त हुए। पं० गुलेरी ने अपने 'पुरानी हिन्दी' निबन्ध में ऐसे दोहों एवं कुछ राजस्थानी रूपान्तरों का श्रेष्ठ सकलन किया है। कुछ दोहे प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत हैं—

भल्ला हुआ जु मारिया, बहिणि महारा कन्तु।
लज्जेजति वयसि अहु, जइ भग्गा घर एतु॥
वायसु उड्डावतिअए, पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय, अद्धा फुट्ट तडत्ति॥[2]

ये अति प्रसिद्ध दोहे हैं और आज भी थोड़े से रूपान्तर में समस्त राजस्थान में प्रचलित हैं। प्रथम में वीरता की भावना है जो कालान्तर में राजस्थानी दोहे में खूब फली। दूसरे में शृंगार की अतिशयोक्ति है, जिसका पोषण भी राजस्थानी दोहाकारों ने अपने दोहों में आगे चल कर किया। इन दोहों की समृद्धि राजस्थानी दोहों के इतिहास में क्रमबद्ध देखी जा सकती है।

---

[1] सिद्ध हेम, (श्री बूब और श्री ज. का. पटेल), प्रास्ताविक, पृ० ४
[2] वही, पृ० १०

२. कुमारपाल प्रतिबोध : सं० १२४१ को आषाढ शुक्ल अष्टमी रविवार को अनहिल पट्टन में सोमप्रभ सूरि ने इसकी रचना समाप्त की थी।[1] इस ग्रंथ में उद्धरण स्वरूप रक्खे गये अनेक दोहों मे राजस्थानी दोहों के पूर्व रूप दिखलाई पडते हैं। दूसरे, स्वय सोमप्रभाचार्य द्वारा रचित दोहों में तो सधि-काल की भाषा का बडा स्पष्ट रूप है। जैन कवि द्वारा उद्धृत दोहों का समय सं० ११०० अथवा उसके पूर्व का मानना बडा सरल है क्योंकि सौ-डेढ़सौ वर्ष की परम्परा मे ये मौखिक या तत्कालीन लिखित साहित्य मे प्रचलित रहे होंगे ही। कुछ दोहों के उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

पिय हउ थक्कि सयलु दिलु, तुह विरहग्गि किलंत।
थोडई जल जिम मच्छलिय, तल्लोबिल्लि करत॥
अम्हे थोडा रिउ बहुय, इउ कायर चिंतति।
मुद्धि निहालहि गयणयलु, कइ उज्जोउ करंति॥[2]

पहले दोहे मे शृंगार है और 'पिय हूं थकी', 'थोडो जल', 'तलबल करते' आदि रूप राजस्थानी के अत्यन्त निकट हैं। दूसरा दोहा रुक्मिणी हरण के समय कृष्ण द्वारा रुक्मिणी को कहा गया आश्वासन है। इसमे भी 'म्हे' 'गिगन' आदि राजस्थानो के पूर्व रूप हैं। सोमप्रभ एव कवि सिद्धपाल द्वारा विरचित दोहो मे तो पूर्ण राजस्थानो अकुर है। स्वय गुलेरीजी ने इनको डिंगल कविता के बहुत मिलती-जुलती माना है।[3]

३. प्रबन्ध चिन्तामणि : आचार्य मेरुतुंग द्वारा लिखित यह संस्कृत ग्रंथ स० १३६१ की रचना है। इस ग्रंथ मे उद्धृत अनेक दोहो में सधिकाल की कविता का आभास मिलता है। इन दोहों का समय ग्रंथ रचना के ५०-६० वर्ष पूर्व भी कहा जावे तो सं० १३०० के पूर्व के आसानी से कहे जा सकते हैं। इन दोहो की भाषा अपभ्रंश की उत्तरावस्था के उदाहरण एव राजस्थानी की पूर्वावस्था का रूप कहने मे कोई सकोच नही है। कुछ उदाहरणों से यह प्रमाणित किया जा सकता है।

१. अम्मणिओ संदेसडओ, तारय कन्ह कहिज्ज।
जग दालिद्दिहि डुब्बिउ, बलिबधणह मुहिज्ज॥

---

[1]पुरानी हिन्दी, पृ० ६२
[2]वही, पृ० ८७, ६२
[3]वही, पृ० ७०

२. मुंज बडल्ला दोरडी, पेक्खेसि न गम्मारि ।
आमाढि घण गज्जीइं, चिक्खिलि होसेड्वारी ॥
३. काग वि विरहकरालिइं, पइ उड्डावियउ वराउ ।
सहि अच्चब्भुउ दिट्ठ मइ, कण्ठि विलुल्लइ काउ ॥
४. को जाणइ तुह नाह चित, तु हालेइ चक्कवइ लउ ।
लंकहले वाहमग्गु, निहालई करणउत्तु ।।[1]

पहले दोहे में भाषा का राजस्थानी पूर्व रूप है; अमीणो, सदेसडो, कान्ह, कहिज्ज या कहिजे(ह), जग-दालद, बंधण आदि शब्दों से प्राचीन राजस्थानी दूर नहीं है। दूसरे दोहे मे दोरडी (डोरडी), गम्मारि (गंवार) आदि शब्दों के साथ-साथ इस दोहे के रचना-तत्र पर आगे चल कर वर्षा संबंधी अनेक दोहों में ऐसी ही श्रृगारिक भावनाएँ देखी जा सकती हैं। तीसरे दोहे मे विशिष्ट संकेत 'सहि' याने 'हे सखि !' द्रष्टव्य है क्योंकि कालान्तर में अनेक दोहे 'हे सखि' के सम्बोधन या सखि के व्याज से निर्मित हुए। चौथे दोहे की भाषा तो प्राचीन राजस्थानी के अत्यन्त निकट है ही। चौथे चरण में 'करणउत्तु' (करणउत या करणोत) का प्रयोग कर्ण के पुत्र याने सिद्धराज के लिए हुआ है। यह प्रयोग आगे चल कर राजस्थानी दोहों की एक विशिष्टता बन गया और हजारों दोहे 'उत' प्रयोग के रचे गये।

इन दोहो के अतिरिक्त स० ११५७ मे सग्रहीत दोहाकोष[2], जिसमे सरह, काण्हपा आदि के दोहे है, में भी राजस्थानी दोहो के सन्धिकाल का रूप है।

निष्कर्ष : सधिकाल के दोहे अपभ्रश से प्रभावित हैं। अपभ्रंश का भाषा के रूप मे प्रचलन लगभग ५वी शती से १०वी शती रहा है और ६वी शती के बाद से तो इसे राज्याश्रय भी प्राप्त हुआ है। इस भाषा का समृद्धि-युग १२वी शती तक है और लगभग यही काल राजस्थानी दोहो का सधियुग है। राजस्थानी दोहे उस समय की लोक भाषा के साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। अत दोहो और दोहाकारो का विवरण प्राप्त न हो तो कोई आश्चर्य नही है। ढोला मारू रा दूहा' के सम्पादको से सभी की पूर्ण सहमती होनी चाहिए जब कि वे यह लिखते हैं— जब अपभ्रश के साहित्य का पता अभी बहुत कम लगा है तो फिर लोक भाषा के साहित्य की बात तो जाने ही दीजिये। इस

---

[1] चारो दोहे पुरानी हिंदी से उद्धृत हैं।
[2] शोध-पत्रिका, अक १:१, पृ. २४।

काल मे भी साहित्यिक लोग अपनी रचनाएँ अपभ्रंश मे ही लिखते होगे क्योंकि वह शिष्ट भाषा समझी जाती थी। फिर वैदिक-मतानुयायी विद्वानों ने तो जनता की भाषा की कभी पर्वाह नहीं की। उन्होने जो कुछ लिखा प्रायः सब का सब संस्कृत में लिखा। प्राकृत और अपभ्रंश भी जब उनकी कृपादृष्टि से बाहर रही तो बेचारी लोकभाषा को क्या कथा ? दूसरे, लेखक प्रधानतया जैन आचार्य आदि थे। वे भी बहुत दिनो तक प्राकृत और बाद मे अपभ्रंश—तत्कालीन शिष्ट भाषाओ—के फेर मे पड़े रहे। एकाध रचना हुई भी होगी तो कही किसी पुस्तक भंडार मे अंधकार के गर्त में छिपी पड़ी होगी।'[1] फिर भी संधिकाल के दोहों के जो रूप सग्रहों आदि में उद्धृत या संग्रहीत मिलते हैं, उनको देखते हुए यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि तत्कालीन राजस्थानी मे कालान्तर की राजस्थानी के पूर्व रूप निहित हैं। भाषा की दृष्टि से अनेक शब्द-प्रयोग, परम्पराओ की दृष्टि से अनेक शैलीगत प्रयोग और भावनाओं की दृष्टि मे वीर, शृंगार एवं नीति के अनेक साम्य प्रयोग प्राप्त हैं। इस युग मे सोरठवासी चारणों की दूहा-स्पर्धा प्रचलित थी। अतः दोहों का प्रचलन राजस्थान और सौराष्ट्र-गुजरात में अत्यधिक गति से प्रारम्भ हो गया था। हेमचन्द्राचार्य तक दोहो का व्यापक प्रचलन हो चुका था, यह सप्रमाण कथन है।

सधिकाल के दोहाकारो का आधिकारिक वृत्त प्राप्त नही है, क्योंकि दोहे मुक्तक रूप में अन्य लेखकों द्वारा उद्धृत मिलते हैं। कुछ दोहे जैन कवियों के धार्मिक ग्रथादि में प्राप्त हैं।[2] इसलिये इस युग के तीन दोहाकारों का ही विवरण दिया जा रहा है—

(१) योगचन्द्र[3]—इनका समय १२वीं सदी है। ये अपभ्रंश और राजस्थानी के सधिस्थल के कवि हैं। इनकी 'दोहासार' पुस्तक प्राप्त है। 'योगसार के दोहों' का राजस्थानी रूपान्तर लगभग १६वीं शताब्दी का प्राप्त है।

(२) करमानन्द[4]—'आणद' और 'करमाणंद' नामक दो चारणों की

---

[1] ढोला मारू रा दूहा, पृ. ११४

[2] द्रष्टव्य (अ) राजस्थानी भाषा और साहित्य, डा. मेनारिया, पृ. ७८
(आ) ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह, स. नाहटाजी

[3] राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, ग्रथांक ५४१८, पृ. १३५

[4] कल्याणी (जयपुर), वर्ष २।११, पृ. २४

जोडी हेमचंद्राचार्य के युग मे सिद्धराज सोलंकी के दरवार मे थी। उन्होने कंकाळण भाटणी को हराया था। आणद दूहे की प्रथम पक्ति कहता और करमाणंद दूसरी कह कर पादपूर्ति करता था। इनके दोहे गुजरात, सौराष्ट्र और राजस्थान में बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके विषय में प्रसिद्ध है—

> कवितँ 'आलू' दूहै 'करमाणद' पात 'ईसर' विद्या चो पूर।
> 'मेहो' छदँ भूलणँ 'मालो' 'सूर' पदँ गीतँ 'हरसूर'॥

३. वज्रसेनसूरि[1]— अति प्राचीन काल के इस दोहाकार का विस्तृत परिचय प्राप्त नहीं होता। इनकी एक कृति 'भरहेसर बाहूवलि घोर' का परिचय श्री भवरलाल नाहटा ने दिया है, जिसके अनुसार ये देवसूरि नामक गुरु के शिष्य सिद्ध होते हैं। इनका रचनाकाल स० १२२५ के लगभग माना गया है। इनके ग्रंथ के ४८ छंदो में से ३८ छंद दोहे हैं। इनकी भाषा प्राचीन राजस्थानी है जो प्राय: अपभ्रंश के निकट है। सभी दोहे सोरठिये दोहे हैं। उदाहरणार्थ एक दोहा प्रस्तुत है—

> पहु भर हेसर अेव, बाहु बलिहि कहावियउ।
> जइ वहु मन्नहि सेव, तो प्रवणउ सग्रामि थिउ॥

आदिकाल : राजस्थानी दोहो के आदिकाल की अवधि स० १३०० से स० १५०० तक की है। कुशललाभ ने स० १६१८ के लगभग 'ढोला मारू' के प्रचलित दोहो का सकलन किया और उन पर अपनी टिप्पणी देते हुए लिखा कि 'दूहा घणा पुराणा अछइ'।[2] 'घणा पुराणा' से स्पष्ट ध्वनि तीन सौ वर्ष पूर्व तक की माननी चाहिये क्योकि सामान्यतया १००—१५० वर्ष प्राचीन वस्तु को हम 'पुरानी' कहते हैं, अत 'अधिक पुरानी' वस्तु तीन सौ वर्ष की मानना उचित ही है। दूसरे, ढोला का समय स० १००० का अनुमानित है, इसलिए नायक की मृत्यु के ३०० वर्ष बाद तक के समय मे इनका निर्माण हो ही जाने की सभावना ठीक भी लगती है। तीसरे, सधियुग के अनेक दोहे ढोला मारू के दोहो से अत्यधिक रूप-साम्य भी रखते हैं। चौथे, यह काल राजस्थानी मे दोहों के प्रचलन का नया-नया था, अत: अनेक लोगो ने नये फैशन के तौर पर भी इस छद को अपना लिया होगा। इसलिए यह निष्कर्ष निकलता है कि 'ढोला

---

[1] शोधपत्रिका, अक ३।३, पृ. १४१ पर श्री भवरलाल नाहटा का लेख।
[2] ढोला मारू रा दूहा, पृ. ८

मारू रा दूहा' तत्कालीन लोकभाषा में संवत् १३०० के आसपास रचा गया है। 'ढोला मारू' के दोहों से ही राजस्थानी दोहो का आदिकाल प्रारम्भ मानना चाहिए।

इन दो सौ वर्षो अर्थात् स० १३०० से सं० १५०० तक के समय में दोहों का प्रचलन एवं व्यापकता वडी तीव्रता से बढी। इसी समय दोहो में अनेक छद-चमत्कार भी आये। मुक्तक परम्परा के साथ-साथ रासो आदि प्रवन्धो एवं तत्कालीन प्रचलित गद्य-पद्य-प्रकारो में भी इस छंद ने अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया था। इसी काल मे दोहे का छद-रूप भी स्थिर हुआ। अभी तक १४+१२ आदि मात्राओं के दोहे प्रचलित थे, किन्तु 'प्राकृतपैंगलम्' तक १३+११ मात्राओ का क्रम लगभग स्थिर हो गया था। नादवैभवादि काव्य-चमत्कारो के साथ-साथ दोहो में प्रतिपाद्य विषयों मे भी विविधता के दर्शन प्राय. होते हैं। प्रेम, वीरता, भक्ति, प्रशस्ति, नीति आदि पर अनेक राजस्थानी दोहे इस युग में मिलते हैं।

इस युग की एक अति प्रचलित प्रवृत्ति प्रेम है। यद्यपि प्रेम के अनेक पक्षो का तथा पक्षो के सूक्ष्म निरीक्षण का वर्णन आगे के कालों में अधिक स्पष्टता से हुआ, तथापि प्रेमाभिव्यक्ति का प्रचलन आदिकालीन अनेक दोहो मे देखा जा सकता है। 'ढोला मारू के दोहे' इस युग की विशिष्ट एव अन्यतम कृतियो मे से है। एक लम्बी प्रेम-कथा के आधार पर रचित ये दोहे कही-कही अत्यत मार्मिक अनुभूति का चित्रात्मक रूप प्रस्तुत करते हैं। इन दोहो मे वर्णित प्रेम और विप्रलभ शृगार का विवरण-विवेचन 'ढोला मारू' के सम्पादकों ने अति विस्तार से किया है[1]। उसकी पुनरावृत्ति करने का लक्ष्य यहाँ नही है. किन्तु इतना निर्देश आवश्यक है कि प्रेम-कथा के इन दोहो का ऐतिहासिक दृष्टि से परम्परागत प्रभाव आगे की प्रेम-कथाओ पर बहुत पड़ा है। जेठवा, नागजी, शेणीवीजाणद तथा अनेक इसी प्रकार की अन्य प्रेम-प्रधान कथाओ के दोहे इस परम्परा के जीवित प्रमाण हैं। कुछ रचनाओ मे या प्रचलित लोक कथाओ मे तो ढोला मारू के दोहो का अल्पाधिक परिवर्तित रूप स्पष्ट है। इसी प्रकार ढोला और मारू के व्यक्तिकरण का आगे चल कर दोहो मे नायक-नायिका के रूप मे सामान्यीकरण भी कर दिया। इस काल मे आसाइत (स० १४२७) ने

---

[1] ढोला मारू रा दूहा, पृ. ६५ से १०१

अपने प्रेमकाव्य 'हंसाउली'[1] में भी दोहों का प्रयोग किया है। इन दोहों में साहित्यिक चमत्कार का अभाव तो है किन्तु सरलता और सादगी के दर्शन सर्वत्र किये जा सकते हैं। इस प्रकार आदिकाल में प्रेम-भावना के दर्शन होते हैं। उदाहरण के लिए इस काल का एक दोहा लिया जा सकता है, जिसमें विरहिणी का एक चित्र प्रस्तुत हुआ है—

चपा केरी पाखडी, गूयूं नवसर हार।
जउ गळ पहरूं पीव विन, तउ लागे अगार ॥[2]

वीरता राजस्थान और राजस्थानी की अपनी वस्तु है, जिसका दूसरे साहित्य में इतना परिमाण नही है। आदिकाल के कुछ दोहे वीर भावना से युक्त हैं। वीररस-प्रधान दोहों की प्राप्ति सधिकाल से ही होती है, किन्तु आदिकाल मे वीरता का रूप थोड़ा और अधिक स्पष्ट हुआ और आगे चल कर जब राजस्थान का युद्ध से रात-दिन का सम्पर्क स्थापित हुआ तो इन्ही दोहों का विकसित एव चरमरूप-चित्र देखा जा सकता है। 'रणमल्ल छंद' के कर्त्ता श्रीधर (स० १४५७) ने एक दोहे में मूछें फटकने का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है—

साहस वसि सुरताग दळ, समुहरि जिम चमक्न्त।
तिम रणमल्लह रोस वसि, पूछ सिहरि फुरक्न्त ॥[3]

यही मूछो का वर्णन भविष्य के राजस्थानी दोहो का एक महत्वपूर्ण विषय बना। इस युग के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दोहाकार गाडण सिवदास (सं० १४८५) ने अपनी गद्य-पद्य-मिश्रित रचना 'अचळदास खीची री वचनिका' में सभी प्रवृत्तियों को अपनाया, किन्तु वीरता-प्रधान दोहों के रूप मे वीरता की भावना का पुष्ट परिपाक है। बादर ढाढ़ी ने भी अपने 'वीरमांण' (वीरमायण) में युद्ध और वीरता के अनेक चित्र दोहो मे प्रस्तुत किये हैं।

जैन कवियो और सन्तों ने अपनी कविताओ या वाणियों में दोहे का अत्यन्त प्रयोग किया है। सरहपा आदि भक्तों मे याने दोहा छद की प्रारम्भिक स्थिति में भी दोहा और भक्त दोनों का अभिन्न सम्बध रहा है। आदिकाल के

---

[1] प्राचीन राजस्थानी गीत, भाग ६, पृ १४
[2] ढोला मारू रा दूहा, पृ. ६०
[3] प्राचीन राजस्थानी गीत, भाग ६, पृ ४६

जैन कवियो ने भक्ति में गाहा के साथ-साथ दोहे का भी भरपूर प्रयोग किया।

राज्याश्रित कवियो अथवा अन्य कवियो ने अपने आश्रयदाता अथवा विशिष्ट व्यक्ति के लिए प्रशंसात्मक अथवा प्रशस्ति के अनेक दोहों की रचना की है। गाडण पसाइत (स० १४८०-१५३१)[१] के 'राव रिणमल रौ रूपक' एवं 'गुण जोधायण' मे क्रमशः रणमल और जोधाजी की प्रशस्ति है। इन दोनों रचनाओं मे दोहो का अभाव नही है।

नीति के दोहे संधिकाल से ही प्राप्त होते हैं, किन्तु वस्तुतः दोहों में नीति की प्रधानता पूर्वमध्यकाल से आई है जो आज तक देखी जा सकती है। आदि-काल में नीति के स्वतंत्र ग्रंथमय दोहो की रचना नही मिलती, फिर भी अन्य काव्यरूपों में दोहो मे वर्णित नीति प्राप्त होती है। नाहटाजी के संग्रह में सुरक्षित एक सुभाषित की प्रति में अनेक नीति के दोहे हैं। प्रति १५वी शती के लगभग रचित का अनुमान है।[२] १५ वी शताब्दी के कवि हरि भाट द्वारा रचित 'मान कुतूहल' में भी दोहों में नीति वर्णित है।

इस काल के मुख्य दोहाकारों का परिचय इस प्रकार है—

(१) **ठक्कर फेरू**[३]—इनका रचनाकाल सं० १३४७ है। ये दिल्ली के निकट कन्नाणा नगर के निवासी थे। पिता का नाम ठक्कुरचद था। ये अला-उद्दीन खिलजी के यहा उच्चाधिकारी थे। इनकी लगभग दस रचनाओं का उल्लेख है। भाषा पर प्राकृत तथा अपभ्रंश का प्रभाव है।

(२) **असाइत**[४]—'हसाउली' नामक एक लघु पुस्तिका के लेखक असाइत का जन्म सिद्धपुर में हुआ था। ये औदिच्य ब्राह्मण थे। पिता का नाम राजाराम कहा जाता है। 'हसाउली' मे ४४० छद हैं और मध्य-मध्य में दोहा छदों का प्रयोग भी हुआ है। इनका रचनाकाल सभी इतिहासकारों ने सवत् १४२७ माना है। एक दोहे का उदाहरण निम्नलिखित है—

---

[१] राजस्थानी भाषा और साहित्य, डा० माहेश्वरी, पृ. ८८

[२] श्री अगरचद नाहटा का सग्रह।

[३] राजस्थान भारती, अंक ६।३-४, पृ. ९२ पर श्री भवरलाल नाहटा का लेख।

[४] राजस्थानी भाषा और साहित्य, डा० मेनारिया, पृ. ८०; प्राचीन राजस्थानी गीत, भाग ६, पृ. २२।

सरोवर पालि ऊतर्या, वाडी कर्या विश्राम ।
ततक्षणि चाल्यु कापड़ी, राजन कहिय प्रणाम ॥

(३) आल्हा चारण[1]—राव चूडाजी (सं० १४३७) के संरक्षक रूप में इनको रहने का अवसर प्राप्त हुआ है। विस्तृत विवरण की प्राप्ति के अभाव मे चूडाजी का समय ही इनका रचनाकाल मानना चाहिए। चूडाजी मडोर के स्वामी हुए तब इस चारण ने उनको प्राचीन स्मृति का स्मरण इस दोहे द्वारा कराया था—

चूंडा नावै चीत, काचर कालाऊ तणा ।
भूप भयो भैभीत, मडोवर रै माळियै ॥

(४) श्रीधर[2]—ईडर नरेश राठौड रणमल के शासन-काल मे श्रीधर का वर्तमान होना माना जाता है। इसके जीवन के विषय में आधिकारिक जानकारी का विवरण अज्ञात है। इनका प्रसिद्ध ग्रथ 'रणमल छद' है, जिसमें 'दुहा' छद का प्रयोग मध्य-मध्य में बडे ही कलात्मक ढग से हुआ है। इनका रचनाकाल स० १४५७ का माना जाता है। एक दोहे का उदाहरण प्रस्तुत है—

साहस वसि सुरताण दळ, समुहरि जिम दमक्न्त ।
तिम तिम ईडरमिहर वरि, ढोल गहिर ढमक्न्त ॥

(५) भीम[3]—इस कवि के जीवन की अधिक जानकारी नही है। यह 'सदयवत्स चरित' का लेखक था। इसका रचनाकाल स० १४६६ के लगभग माना जाता है। दोहे का उदाहरण निम्नलिखित है—

नाह तुहाला नेह, त्रिय ऊसकल एक भवि ।
जां दसवार न देह, ए आपणउ न होमीइ ॥

(६) गाडण सिवदास[4]—सिवदास चारण मालव प्रांत के खीचीवाड़े का निवासी और गढ गागरौण के राजा अचळदास का समकालीन था। इनकी 'अचळदास खीची री वचनिका' वडा महत्वपूर्ण एव प्रतिष्ठित ग्रथ है। इसमे

---

[1] राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद, डा० सहल, पृ. ६७
[2] प्राचीन राजस्थानी गीत, भाग ६, पृ ४६; डिंगल साहित्य, डा० जगदीशप्रसाद, पृ २१
[3] प्राचीन राजस्थानी गीत, भाग ६, पृ. ६६
[4] राजस्थान भारती अक ५।१, पृ ८० पर श्री जुगलसिंह खीची का लेख, राजस्थानी भाषा और साहित्य, डा० माहेश्वरी, पृ. ८३

दोहों का प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है और अन्तमेल दूहों की बहुलता है। इनका रचनाकाल विवादास्पद है, किन्तु सं० १४८५ के लगभग का अनुमान उपयुक्त ठहरता है। इनकी भाषा मे डिंगल का परिष्कृत रूप प्राप्त होता है। सिवदास के दोहे विकासात्मक अध्ययन एवं साहित्यिक सौन्दर्य दोनों ही दृष्टि-कोणों से महत्वपूर्ण है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

> निरणै अचल निडार, सूरा गुरु सूरिज उदै।
> एकिणि दिसि आया असुर, पह दूजी परिवार ॥

(७) **गाडण पसाइत**[1]—इनका जीवन-वृत्तान्त प्राप्त नही है। इनका रचनाकाल सं० १४८० से १५३१ के बीच अनुमानित है। ये रणमल या जोधा के आश्रित कवि रहे होगे। इनकी 'राव रिणमल री रूपक' और 'गुण जोधा-यण' रचनाएँ मिलती है। दोनो ही रचनाओ में दोहा छद का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ एक दोहा प्रस्तुत है—

> वपवाणी ब्रहमाणी, कोमारी सरसत्ति।
> कीरत रिणमल नु कहं, देवी देहि सुमत्ति ॥

(८) **हीराणंद सूरि**[2]—इनकी 'विद्याविलास चौपाई पवाडऊ' आदि रचनाओं में दोहे मिलते हैं। स० १६७६ मे लिपिकृत एक प्रति में इनका रचनाकाल स० १४८५ सिद्ध होता है।

(९) **कवि मयण**[3]—इनका रचनाकाल सं० १४५० और १५०० के मध्य माना गया है। राजस्थानी वातो में इनका उल्लेख नाहटाजी को प्राप्त हुआ है। इनकी फुटकर रचनाएँ प्राप्त हैं।

(१०) **कवि हरि भाट**[4]—पन्द्रहवी शताब्दी विक्रमी के इस कवि का वृत्तान्त ज्ञात नही है। पता नही 'अजीतसिंह चरित्र' और 'राव अमरसिंह गजसिंघोत रा रूपक सवैया' रचनाकार हरिदास भाट और कवि हरि भाट एक

---

[1]राजस्थान भाषा और साहित्य, डा० माहेश्वरी, पृ. ८७

[2]राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, ग्रंथांक १८२७

[3]शोधपत्रिका, भाग ८, अंक १-२, पृ. ४३ पर श्री अगरचन्द नाहटा का लेख, कवि चरित, श्री के. का शास्त्री, पृ. ६०

[4]शोधपत्रिका, अंक ८।४, पृ. १७ पर श्री भंवरलाल नाहटा का लेख; डिंगल साहित्य, डा० जगदीशप्रसाद, पृ. १८

ही व्यक्ति हैं ? हरि भाट कृत 'मानव कुतुहल' या 'मानवती विनयवंती शतक' का पता चला है। इसमें दूहा छंद का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है—

जो गुण ने दुत्रवि किया, मइ नहु वंच्या मित्र ।
एक सहइ दूजो दहइ, एकरण कारण चित्तु ॥

(११) बहादर ढाढ़ी[1]—बादर या बहादर ढाढी का 'वीरमाण' (वीरवांण, वीरमायण) ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है। इसका रचनाकाल स० १५०० के आसपास मानना चाहिए। कुछ लोग अठारहवी शती भी मानते है। इनके ग्रथ में दोहों का बडा सुन्दर प्रयोग प्राप्त है।

इन प्रमुख दोहाकारों के अतिरिक्त अनेक अज्ञातनाम दोहाकारों के दोहे भी मिलते हैं, जिन पर अधिकृत रूप से कुछ कह सकना अभी सभव नही है।

---

[1] राजस्थानी भाषा साहित्य, डा० माहेश्वरी, पृ. ७४, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान की प्रति।

# आदिकालीन राजस्थानी जैन साहित्य

श्री अगरचंद नाहटा

राजस्थान से जैन धर्म का सम्बन्ध बहुत पुराना है। अन्य जैन तीर्थंकर चाहे इस प्रदेश मे नही पधारे हों, पर भगवान महावीर के इधर पधारने के सम्बन्ध में कुछ प्रवाद मिलते हैं, यद्यपि वे काफी पीछे के होने के कारण इतने विश्वसनीय नही माने जा सकते, फिर भी भगवान महावीर के बाद कुछ शताब्दियो में ही कई जैनाचार्य इस प्रदेश मे पधार गये थे, निश्चित है। प्राचीन जैन ग्रन्थो मे उनके निर्माण-काल, रचना-स्थान का उल्लेख नही मिलता, इसलिए ७वी शताब्दी के पहले के किसी भी ग्रथ को, वह कहाँ रचा गया, निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। ८वी शताब्दी के आचार्य हरिभद्रसूरि राजस्थान के बहुत बड़े विद्वानो मे से हैं, जिन्होने 'धूर्ताख्यान' की रचना चित्तौड मे की थी, इसका स्पष्ट उल्लेख उक्त ग्रथ के अन्त मे मिलता है। ५वी शताब्दी के महान् दार्शनिक जैन विद्वान सिद्धसेन दिवाकर मालव प्रदेश में विचरे थे ही, सम्भव है वे भी राजस्थान मे आए हो। ९वी शताब्दी में उद्योतन-सूरि ने 'कुवलयमाला' ग्रथ की रचना जालौर में की और १०वी शताब्दी मे सिद्धर्षि ने श्रीमाल नगर में 'उपमिति-भवप्रपञ्चा' नामक विश्वसाहित्य का अजोड रूपक ग्रथ बनाया। ११वी शती में भी जिनेश्वरसूरि, बुद्धिस्वरसूरि ने ग्रथ बनाये। इसके बाद तो अनेक आचार्यों एव विद्वानो ने राजस्थान के अनेक ग्राम-नगरो में धर्मप्रचारार्थ रहते हुए प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रश में प्रचुर साहित्य निर्माण किया।[1] राजस्थान एव गुजरात के जैन-भण्डारो में

---

[1] देखें—राजस्थान भारती, भाग ३, अक २ में प्रकाशित मेरा लेख, 'राजस्थान में रचित जैन सस्कृत साहित्य।'

ऐमा साहित्य बहुत बड़े परिमाण मे आज भी प्राप्त है। जैसलमेर का प्राचीन ज्ञान-भण्डार तो विश्व-विश्रुत है। इस भण्डार मे १०वी शताब्दी तक की लिखी हुई ताड़पत्रीय प्रति और १३वी शताब्दी तक की लिखी हुई कागज की कई प्रतियाँ प्राप्त हैं। १४वी, १५वी शती की लिखी हुई दो ऐसी सग्रह-प्रतियाँ मिली हैं जिनमें आदिकालीन राजस्थानी रचनाएँ भी काफी संख्या में हैं। १२वी, १३वी शताब्दी की कई ताड़पत्रीय प्रतियों में भी अपभ्रश रचनाएँ मिलती हैं।

अपभ्रंश से राजस्थानी भाषा का विकास हुआ। इसका प्राचीन नाम 'मरु-भाषा' था। सं० ८३५ मे रचित 'कुवलयमाला' में मरुप्रदेश की बोली की विशेषता का सर्वप्रथम उदाहरण मिलता है। यद्यपि उस समय और उसके बाद की कुछ शताब्दियो का भी मरुभाषा का साहित्य आज प्राप्त नही है, क्योकि उस समय साहित्य-निर्माण की भाषा प्रधानतया प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रश थी। ११वी शताब्दी की अपभ्रश रचनाओ में राजस्थानी भाषा के विकास के चिन्ह मिलने लगते हैं। कवि धनपाल रचित 'सच्चउरिय महावीर-उत्साह' ऐसी ही एक रचना है।

इस उत्साह-सज्ञक रचना मे मारवाड के साचोर में भगवान महावीर की जो प्राचीन मूर्ति है और उसे महमूद गजनवी ने तोड़ने का प्रयत्न किया था पर वह सफल नही हुआ, इसका ऐतिहासिक उल्लेख विशेष महत्व का है। यद्यपि उसमे महमूद गजनवी का स्पष्ट नाम नही है पर इस वर्णन से पहले के पद्य में 'तुरक्क' शब्द आता है और सम्भवत 'कुविजोग नरेसरु' आता है वह उसी के लिए प्रयुक्त हुआ होगा। १५ पद्यो की इस रचना के प्रारम्भिक ३ पद्य और अन्त का एक पद्य यहाँ उद्धृत किया जाता है—

प्रारभ—जिणव जेण दुट्ठ कम्म, बलवता मोडिय,
चउ कसाय पसरत जेण, उम्मूल वितोडिय;
तिहुयण-जगडण-मयण सरहि, तणु जासु न भिज्जइ,
इयरनरहि सच्चउरि-वीरु, सो किम जगडिज्जइ॥ १
बरसुरहि पहरंत खघ, माहणसिरि तोडहि,
फरसु अलिय गब्भुरु य लेखि, तरुवारिहि भोडहि,
ते तेरिस भाविट्ठ दुट्ठ, आरुट्ठ सुधीरह,
नयणिहि पेच्छहि जाव ताव, पहर तिन वीरह॥ २
भंजेवि णु सिरिमालदेसु, अनु अणहिलवाडउं,
चड्डावल्लि सोरट्ठु भग्गु, पुणु देउलवाडउ;

सोमेसरु सो तेहि भग्गु, जणमण आणंदणु,
भग्गु न सिरि सच्चउरि वीरु, सिद्धत्थह नंदणु ॥ ३

अन्तः—रविवि सामि पसरंतु मोहु, नेहंडुय तोडहि,
सम्मदंसणि नाणु चरणु, भडु कोहु विहाडहि,
करि पसाउ सच्चउरि-वीरु, जइ तुहु मणि भावई,
तइ तुट्टइ घणपालु जाउ, जहि गयउ न आवइ ॥ १५

अब उपरोक्त ऐतिहासिक घटना से सम्बन्धित बीच का एक पद्य दिया जा रहा है जिसमे कुहाड़ो से तोड़ने के प्रयत्न एवं आज भी घाव होने का उल्लेख है—

पुणवि कुहाडा हत्थि लेवि, जिणवरतणु ताडिउ,
पच्छुत्थऽवि कुहाडेहिं सो सिरि अवाडिउ,
अज्जवि दीसहि अगि घाव, सोहिय तसुधीरह,
चलणजुयलु सच्चउरि-नयरि, पणमहु तसुवीरह ॥ ७[1]

इसमे राजस्थान के एक प्राचीन जैन-तीर्थ व मूर्ति सबधित ऐतिहासिक घटना का सम-सामयिक उल्लेख होने से भी इस रचना का विशेष महत्व है। वैसे भी धनपाल महाकवि हुए हैं। उनकी रचित तिलकमञ्जरी' कादम्बरी की टक्कर की अजोड़ कृति है। यह कवि विद्याविलासी महाराज भोज के सभा-पण्डित थे। मूलत. ब्राह्मण थे पर जैन मुनि के सत्सग से जैन बने। ऐसे महाकवि का मारवाड मे पधारना भी उद्धरणीय है।

१२ वी शताब्दी में रचित पल्ह कवि की 'जिनदत्तसूरि-स्तुति' 'अपभ्र श-काव्यत्रयी' हमारे ऐतिहासिक जैन-काव्य-सग्रह में प्रकाशित है जिसकी स० ११७० ७१ की लिखी हुई ताडपत्रीय प्रतिया प्राप्त हैं। यह १० छप्पय छन्दो मे है। भाषा अपभ्र श प्रधान है। इसी प्रकार जिनदत्तसूरिजी की स्तुति रूप कई और छप्पय जैसलमेर भंडार की ताडपत्रीय प्रति में प्राप्त हुए थे, उनमे से १६ छप्पयों को हमने अपनी 'युग-प्रधान श्री जिनदत्तसूरि' पुस्तक के पृष्ठ न० ३ मे प्रकाशित किया था। यह अपूर्ण रूप से प्राप्त है। पता नही ऐसे और कितने पद्य रचे गए थे। स्वय जिनदत्तसूरिजी की चर्चरी 'काल-स्वरूप कुलक' एव 'उपदेश रसायन' रचनाएँ ३ 'अपभ्रश काव्यत्रयी' मे प्रकाशित हो चुकी हैं। इन आचार्य-श्री का विहार अधिकतर राजस्थान मे हुआ। इसीलिए इन्हें 'मरुस्थली कल्पतरु'

---

[1] जैन साहित्य संशोधक, वर्ष ३ में प्रकाशित।

विशेषण दिया गया है। अजमेर-नरेश अर्णोराज, त्रिभुवनगिरि के राजा कुमारपाल इनके भक्त थे। जैसलमेर के निकटवर्ती विक्रमपुर और चित्तौड़, नागोर आदि मे इनका काफी प्रभाव था। जिनदत्त सूरि संबंधी प्राप्त अपभ्रंश छप्पयों मे से यहाँ दो पद्य उद्धृत किए जा रहे हैं जिनमे से प्रथम पद्य मे अजमेर और साँभर के राजा के तुष्टवान होने का उल्लेख है।

नम (व) फणि 'पास' जिणिंदु गढिउ, अन्नलि जु दिट्ठउ।
'अजयमेरि' 'सभरि नरिंदु', ता नियमणि तुट्ठउ॥
कवणमउ अइ कलसु सिहरि, सारगउ रज्जविग्रउ।
जणु मूतरगि तउ तवइ तिब्वु (त्थु), श्रागासि सउन्नउ॥
जा वुक्कमिसिण ढक्कारविण, करु उब्भिवि फरहरइ धय।
'जिणदत्तसूरि' धर धम (व) लि जहि, तापसिद्धि सु भुयणि वय॥

जो सुर गुरु गिरि वद्धमाग, वसह मोत्ता मणि।
पणइ यगा मण वछियत्थ, पूरण चितामणि॥
जो पच सरसु दुन्निवार, वारण समरेसरु।
सच्चारित्त चरित्र करण्य, सचयह गिरेसरु॥
सो नमहु सूरि जिणदत्त पहु, जुग पहाण लच्छिहि तिलउ।
तिलउ व्वमु पत्तिहि पहियरिउ, समण सुसमणेसर निलउ॥

राजस्थान मे रची हुई ११ वी, १२ वी शताब्दी की इन अपभ्रंश रचनाओ के प्रकाश मे १३ वी शताब्दी की राजस्थानी रचनाओ का परिचय अब दिया जा रहा है।

**१३ वीं शती—**

इस शताब्दी की रचनाओ मे भाषा की सरलता दृष्टव्य है और इसी को लक्ष्य में लेकर प्राचीन राजस्थानी या गुजराती साहित्य का १३ वी शती से आदिकाल माना जाता है। १२ वी शताब्दी मे नागौर मे 'देवसूरि' नामक विद्वान आचार्य हो गए हैं जिन्होने पाटण में महाराजा जयसिंह सिद्धराज की सभा मे दिगम्बर कुमुदचद्र के साथ शास्त्रार्थ कर के विजय प्राप्त को थी और तभी से ये 'वादि देवसूरि' के नाम से प्रसिद्ध हुए। 'प्रमाण नयतत्व लोकालकार' नामक दार्शनिक ग्रथ इनकी विशिष्ट रचना है। वैसे इन्होंने अपने गुरु मुनिचन्द्रसूरि की स्तुति रूप में २५ पद्य अपभ्रंश मे बनाए हैं जो गुजराती छाया के साथ 'जैन श्वेताम्बर कॉन्फ्रेंस हेरल्ड' के सन् १९१७ के सितबर से नवबर के अको में प्रकाशित हो चुके हैं। इन वादि देवसूरि को नमस्कार कर के

वज्रसेनसूरि ने 'भरतेश्वर बाहुबलिघोर' नामक ४५ पद्यों की राजस्थानी में रचना की है। इसे हमने राजस्थान भारती में प्रकाशित करते समय संवत् १२२५ के आसपास की रचना बतलाया है। इसमें भगवान ऋषभदेव के पुत्र चक्रवर्ती भरत और उनके भ्राता बाहुबली के युद्ध का वर्णन है।

कोवानलि पज्जलिउ ताव, भरहेसरु जाइ।
रे रे दियहु पियाणउ, ढाक जिमु मद्दियलु कपइ॥ २०

गुलु गुलंत चालिया, हाथिन गिरवर जंगम।
हिंसा रवि जहि रिय दियंत, हरिलय तुरंगम॥ २१

घर डोलइ खलभलइ सेनु, दिणियरु छाइजइ।
भरहेसरु चालियउ कटकि, कमु ऊपमु दीजइ॥ २२

तनि सुणे विणु बाहूबलिए, सीवहु गय गुडिया।
रिणि रहसिहि चउरंग दल्हिहि, वेउ पामा जुडिया॥ २३

अति चाखिउं पांडरं होइ, अति ताणिउ त्रुटइ।
अति मथिय होइ कालकूटु, अति भरियं फूटइ॥
मंडलियहु बाहूबलि भणइ, मन मरइ अखूटइ।
जो भुयदण्डहु पडइ पासि, सो किमुइ न छूटइ॥ २४

देवसूरि पणमेवि सयलु, तिय लोय वदीतउ।
वयरसेणसूरि भणइ एहु, रस रंगुजु बीत॥ २५

उत्साह और घोर-संज्ञक अभी तक एक-एक रचनाएँ और उन्हीं की एक-एक प्रति ही मिली है। उपरोक्त घोर हमें जैसलमेर भंडार की संवत् १४३७ की लिखी हुई प्रति में मिली।

सवतोल्लेख वाली सर्व प्रथम राजस्थानी रचना भरतेश्वर बाहुबली रास है जिसे राजगच्छ के वज्रसेनसूरि के पट्टधर सालिभद्रसूरि ने सं० १२४१ की फाल्गुन पंचमी को बनाया है। इसमें भी भरतेश्वर बाहुबली के युद्धादि का वर्णन है। वस्तु, ठवणि, धवल, त्रूटक छन्द आदि के कुल २०३ पद्य हैं। इसमें उपरोक्त घोर की अपेक्षा भी भाषा सरल है। इस समय और इसके बाद की १५ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक की सभी राजस्थानी रचनाओं में पद्य संख्या की दृष्टि से भी यह सबसे बड़ी रचना है। मुनि जिनविजयजी और पंडित लालचंद गांधी (गुजराती छापा) के संपादित दो संस्करण इस रास के प्रकाशित हो चुके हैं। इसके युद्ध-वर्णन के कुछ पद्य नीचे दिये जा रहे हैं।

तउ कोपिहि वसकलीउ काल, के बोय कालानल,
ककोरइ[1] कोरवीयउ, करमाल महाबल।
वाहल कलयलि कलगलत, मउडाधा मिलीया,
कलह तणइ कारणि कराल, कोपिहि परज लीया ॥ १२०
हऊउ कोलाहल गहगहाटि, गयणंगणि गज्जिय,
संचरिया सामन सुहड, सामहणीय सज्जीय।
गडयडत गय गडीय गेलि, गिरिवर सिर ढालई,
गूगलीया गुलगइ चलत, करिय ऊलालई ॥ १२१
जुडइ भिडइ भडहडइ खेदि, खडखडई खडाखडि,
धाणीय घूणीय घोसवई, दंतूमलि दोत (तडा) डि।
खुरतलि खोणि खणति खेदि, तेजीय तरवरिया,
समइ घसइ धसमसइ, सादि पयसइ पाखरिया ॥ १२२
कधमल केकाण, कवी करडइ कडीयाली,
रणणइ रवि रण वखर, सरवर घण घाघरीयाला।
सीचाणा वरि सरइ, फिरई सेलई फोकारई
ऊडई आडइ अगि रगि, असवार विचारइ ॥ १२३
घसि धामइ धडहडइ धरणि रथि सारथि गाढा।
जडीय जोध जडजोड, जरद सन्नाहि सनाढा ॥
पसरिय पायल-पूरि कि, पुण रेलीय रयणायर।
लोह-लहरि वर बीर वहई, वह वटई अवायर ॥ १२४
रणणइ रवि रण-तूर तार, त्रबक त्रहत्रहीया।
ढाक ढूक ढमढमइ ढोल, राउत रहरहीया ॥
नव नीसाण-निनादि नीर, नीझरण निरंभीय।
रण-भेरी-भुंकारि भारि, मयबलिहि विय भीय ॥
चलइ चाल चालइ झमाल, करतलि कोदंड।
झलकइ सावल सबल सेल, हल मुसल पयउ ॥
सीगिणि गुण टकार सहित बाणावलि ताणई।
परशु ऊलालई करि धरइ भाला ऊलालइ ॥
तीरीय तोमर भिंडमाल, उवतर कसबंध।
सागि सकति तल्यारि छुरीय, नइ नाग-निबध ॥
हय-खुर रवि उछलीय खेह, छाईय रवि-मडल।
धर धूजीय कलकलीय कोल, कपीय आखडल ॥

---

[1]ककोली किम रोपिश्रो, करि-काल सहायक।

टलटलीया गिरि-टूंक टोल, खेचर खलभलीया ।
ऋडडीय कूरम कध-सधि, सायर झलहलीया ॥
मल्लीय ममहरि सेस-सीसु, सनमलीय न सक्कइ ।
कचणगिरि कधार-भारि, कमकमीय कसक्कइ ॥
कपीय किंनर कोडि पडीय, हर-गण हडहडीया ।
संकीय सुग्वर सग्गि, मयल दाणव दडवडीया ॥
अनि प्रलव लहुकंत अलंव, चल चिंध चिहुं दिसि ।
संचरीया सामत सुहड, सीकिरिहिं कसाकसि ॥
जोई कटक भरह नरिंद. मूंछह वलु घल्लइ ।
कुण बाहूबल जेउ बल, मइ-सिउ बलि बुल्लइ ॥
ऊडइं कंडू रणरणत सिरि वे सर फूटइ ।
अंतरालि आवइ अमाण, तीह अंत अखूटइ ॥
राउत राउत जोध जोधि, पायक पायक्किइ ।
रहवर रहवरि वीर वीरि, नायक नायक्किइ ॥
वेढिकु वेढि विरामि, सामि-सामिहिं नरवरीया ।
मारइं सुरडीय मूंछ, माहि मन मच्छर भरीया ॥
समइं धसइ धसमसइ, वीर-वड नड वरिनाचइं ।
रायस रीरा रव करति, हर-हासु सवि राचइ ॥
चापीय चूरइ नर-करोडि, भुय भूय-बलि भिरडइं ।
विणु हथियारह वीर एक, दातिडं दलु करडइ ॥
चलइ चाल चालवइ झपाल, करिमाल ति तावडं ।
पडइ चिंध झूझइं कबंध, सिरि समहरि हाकइ ॥
रहिर-रिल्लि रणि-तणइं तुरंग, गय गुडीय असूंभइ ।
राउत रण-रसि रहित, बुद्धि समरगणि सूझइं ॥

उपरोक्त उद्धरणो से प्रस्तुत रास की भाषा की सरलता का सही आभास नही मिलता, इसलिए प्रारम्भ और अन्त के तीन-तीन पद्य नीचे और दिये जाते हैं जिसमें ग्रथकार आदि के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सूचनाएँ भी हैं—

*प्रारम्भ*— रिसह जिणेसर-पय पणमेवी,
सरसति सामिणि मनि समरेवी ;
नमवि निरंतर गुरु-चरण ॥ १
भरह नरिंदह तणउ चरित्तो
ज जुगी वसुहा-वलइ वदीतो ;
बार वरिस बिहुं बंधवह ॥ २
हु हिव पभणिसु रासह छंदिहिं,

तं जण-मणहर मण-आणदिहि ;
भाविहि भवीयण ! साभल ओ ॥ ३

अन्त—दस दिसिइ वरतइ आण, भड भरहेसर गहगहइ ए।
रायह ए गच्छ-सिणगार, वयरसेणसूरि-पाटधर ॥ २०३
गुण-गणह ए तणउ भडारु, सालिभद्रसूरि जाणोइ ए।
कीधउं ए तीणि चरित्तु, भरहनरेसर रासु-छदिइ ॥ २०४
जो पढइ ए वसह-वदीत, सो नरो नितु नव निहि लहइ ए।
संवत ए बार एकतालि (१२४१), फागुण पचमिइं एउ कीउए ॥ २०५

भरतेश्वर बाहुबलि रास का प्रचार अधिक नही हो पाया इसलिए इसकी केवल दो ही प्रतियाँ मिल पाई हैं पर शालिभद्रसूरि की दूसरी कृति 'बुद्धिरास' लोकोपयोगी होने से अधिक प्रचारित हुई। इसमें भोले लोगो के लिए सिखामण (हितकारी शिक्षा) दी गई है। इसकी अधिक प्राचीन प्रति तो नही मिली, १६वी शताब्दी की प्रतियाँ मिली हैं। लोकप्रिय रचना होने के कारण उसकी भाषा मे कुछ परिवर्तन आ गया हो, पर उसकी भाषा है बहुत सरल। कुछ पद्य प्रक्षिप्त भी मिलते हैं। अम्बिका और गौतम स्वामी को नमस्कार कर के कवि ने सद्गुरु के वचन से भोले लोगो के लिए सिखामण देने के लिए यह कृति बनाई है। कवि लिखता है कि इसमें कई 'बोल' तो लोकप्रसिद्ध हैं और कुछ गुरु के उपदेश से लिए गए हैं। नमूने के लिए तीन पद्य नीचे दिये जाते है—

जाणिउ धरमु म जीव विणासु, अण जाणिइ घरिम करिसि वासु।
चोरीकारु चडइ अणलीधी, वस्तु सु किमइ म लेसि अदीधी ॥ ४
घरि घरि गोठि किमइ म जाइसि, कूडउ आलु तु मुहिया पामिसि।
जे घरि हुइ एकलि नारि, किमइ म जाइसि तेह घरबारि ॥ ५
घर पच्छोवडि राखे छीडी, वरजे नारि जि बाहिरि हीडी।
पर-स्त्री बहिनि भणीनइ माने, पर-स्त्री वयण म धरजे काने ॥ ६

मुनि जिनविजयजी ने 'भारतीय विद्या' के द्वितीय वर्ष, प्रथम अक के प्रारंभ मे भरतेश्वर बाहुबलिरास और बुद्धिरास दोनो एक ही साथ प्रकाशित किए हैं। बुद्धिरास की सख्या ६३ है। हमारे सग्रह की प्रति में इनमें से नम्बर ४१ से ४५ तक के ५ पद्य नही मिलते।

'भरतेश्वर बाहुबलिरास' के बाद की सवत् उल्लेख वाली रचना कवि आसिगु रचित 'जीवदयाराम' है। स० १२५७ के आसोज शुक्ला सप्तमी को ५३ पद्यो का यह रास सहजिगपुर के पार्श्वनाथ जिनालय मे बनाया गया। कवि जालोर का निवासी था या वहाँ उसका ननिहाल था, जिससे वह जालोर मे आ

गया था। शांतिसूरि का वह भक्त था। अपने नाम के आगे वह 'कवि' विशेषण लगाता है इसलिए उसकी और रचनाएँ मिलनी चाहिये। हमारी खोज में केवल 'चन्दनबाला रास' नामक एक और रचना मिली है। जीवदया रास की प्रति हमने मुनि जिनविजयजी को भेज कर उसे भारतीय विद्या, भाग ३ में प्रकाशित करवा दिया था। और 'चन्दनबाला रास' को राजस्थान भारती, भाग ३, अंक ४ मे प्रकाशित किया जा चुका है। 'जीवदया रास' में कवि ने अपना परिचय भी अच्छे रूप मे दिया है और कुछ ऐतिहासिक सूचनाएँ भी दी हैं। कवि-परिचय वाले पद्य इस प्रकार हैं—

> वाला मंत्रि तणइ पाछोपइ, वेहल महिनंदन महिरोपइ।
> तसु सरवह कुलचद फलु, तसु कुलि आसाइतु अच्छतु।
> तसु वलहिय पल्ली पवर, कवि आसिगु बहुगुण संजुत्तु॥ ५१
> सा तउपरिया (?) कवि जालउरउ, पाउसालि सुमइ सीय सरउ।
> आसीद वदोही (?) वयण, कवि आसिगु जालउरह आयउ।
> सहजिगपुरि पासहं भवणि, नवउ रासु इहु तिणि निप्पाइउ॥ ५२
> सवतु बारह सय सत्तावन्नइ (१२५७) विक्कमकालि गयइ पडिपुनइ।
> आसोयह सियसत्तमिहिं, हत्थो हत्थि जिण निप्पायउ।
> मनि सूरि पयभत्तयरिय, रयउ रासु भवियह मणमोहणु॥ ५३

जीवदया के प्रभाव को बतलाने के लिए इस रास की रचना हुई है। पर इसमे जैन तीर्थों का भी कवि ने वर्णन किया है जिसमें साचोर, चड्डावलि, नागद्रह, फलवर्द्धि और जालोर आदि राजस्थान के हैं। जालोर में महाराजा कुमारपाल ने आचार्य हेमचन्द्रसूरि के उपदेश से 'कुमारविहार' नामक पार्श्वनाथ मदिर बनवाया था जिसका कवि ने वर्णन किया है। प्रारभ के पद्य मे ही कवि ने अपना नाम और रास का विषय उल्लिखित कर दिया है—

> उरि सरसति आसिगु भणइ, नवउ रासु जीवदया सारु।
> कन्नु धरिवि निसुणेहु जण, दुत्तरु जेमतरहु ससारु॥ १

कवि ने कहा है कि ससार में सब मनुष्य एक समान नही होते। जिन्होने दीन-दुखियो को दान नही दिया, उन्हें दूसरो के यहाँ नौकरी कर के आजीविका चलानी पड़ती है। इससे यह सकेत किया है कि दया भाव से दुखी प्राणियो को दानादि द्वारा सहायता करनी चाहिए। भाषा के उदाहरण के रूप मे तीन पद्य नीचे दिये जा रहे हैं—

> कवि भासिग कलिप्रतरु जोइ, एक समाण न दीसई कोई।
> के नरि पाला परिभमहिं, के गय तुरि चडति सुखासणि।

केई नर कठा वहहि, के नर वइसहि रायसिहासणि ॥ ३१
के नर सालि दालि भुंजंता। घिय घलहलु मज्के विलहूता ।
के नर भूखा दूखियइं, दीसहि परघरि कम्मु करंता ।
जीवता वि मुया गणिय, अच्छहिं बाहिरि भूमि रुलता ॥ ३२
के नर तबोलु वि संमाणहि, विविह भोय रमणिहि सउ माणहि ।
के वि अपुंनइ वप्पुडइ, अणु हुतइ दोहला करता ।
दाणु न दिन्नउ अन्न भवि, ते नर परघर कम्मु करंता ॥ ३३

'जीवदया रास' की प्रति बीकानेर के खरतरगच्छीय वृहद्ज्ञान भंडार मे मिली थी जो सं० १४२५ के लगभग की लिखी हुई है। जैसलमेर जाने पर वहा सं० १४३७ की लिखी हुई एक स्वाध्याय पुस्तिका मिली जिसमे आसिग कवि का 'चदन बाला रास' ३५ पद्यों का प्राप्त हुआ। इसमे सती चदन बाला और उसके द्वारा दिया गया भगवान महावीर को आहार-दान का प्रसंग वर्णित है। यह रास भी जालोर मे ही रचा गया था। राजस्थान का और राजस्थानी भाषा का यह सबसे पहला श्रावक कवि है। इसी समय के आसपास भडारी नेमिचद्र विद्वान् श्रावक हो गया है जो खरतरगच्छ के आचार्य जिनेश्वरसूरि का पिता था। वैसे ये मरोठ (मरुकोट) के निवासी थे, पर जिनेश्वरसूरि की दीक्षा खेडनगर मे और आचार्य-पद-स्थापना जालोर में हुई थी। नेमिचद्र भडारी रचित षष्टिशतक प्राकृत भाषा मे १६० गाथा का है। उसने गुरु-गुण-वर्णन नामक ३५ पद्यों की रचना अपभ्रंश-प्रधान राजस्थानी भाषा में की थी जो हमारे सपादित 'ऐतिहासिक जैन-काव्य सग्रह' के पृष्ठ ३६९-७२ मे प्रकाशित हुए हैं। देल्हप रचित 'गयसुवमाल रास' ३४ पद्यों का जैसलमेर भडार से मुझे प्राप्त हुआ था जो राजस्थान भारती, भाग ३, अक २ मे छपवा दिया है।

सवत् के उल्लेख वाली तीसरी राजस्थानी रचना 'जम्बूस्वामि रास' महेन्द्र-सूरि के शिष्य धर्म ने स० १२६६ मे बनाई। ४१ पद्यो की इस रचना मे भगवान महावीर के प्रशिष्य जम्बूस्वामी का चरित्र वर्णित है। यह रास प्राचीन गुर्जर-काव्य-सग्रह में प्रकाशित हो चुका है। इसके कई पद्य, जो ४ पंक्तियों के हैं, दूसरी प्रतियो मे दो-दो पक्तियो के मिलते हैं, इसलिए प्रकाशित पाठ ४१ पद्यो का है पर दूसरी प्रतियो मे उन्ही पद्यो की सख्या ५१, ६२ और ६७ तक पहुच गई है। अतिम केवली 'जबूस्वामी की कथा' बड़ी मार्मिक है। उन्होंने विवाह की प्रथम रात्रि मे ही ८ स्त्रियो को प्रतिबोध दिया था, साथ ही प्रभव नामक चोर भी ५०० चोरो के साथ प्रतिबुद्ध हुआ। रास का आदि अत इस प्रकार है—

आदि:—जिण चउवीसह पय नमेवि, गुरु-चलण नमेवी।
जंबू सामिहितणउ चरिउ, भवि यह निसुणेवी।
करि सानिधु सरसत्तिदेवि, जिम रयउं कहाणउ।
जंबू सामिहि गुणगहण, संखेवि वखाणउ ॥ १

अन्त —वीर जिणिंदह तीथि, केवलि हूउ पाछिलउ।
प्रभवउ वइसारीउ पाटि, सिद्धि पहुतु जंबुस्वामि।
जंबू सामि चरित पढइ गुणइ जे संभलइं।
सिद्धि सुख अणंत ते, नर लीलांहि पामिसिइ ॥ ४०
महिंद सूरि गुरुसीस, धम्म भणइ हो धामीऊ ह।
चितउ राति दिवसि, जे सिद्धिहि ऊमाहीया ह।
बारह वरस सएहिं कवितु नीपनूं छासठए (१२६६)।
सोलह विज्जाएवि, दुरिय पणासउ सयल सघ ॥ ४१

जम्बू स्वामी' रास की तरह तो नही पर दो ग्रन्थ रचनाओं में 'जिण धम्मु कहइ', 'जिणवर धम्मु करहु एकविते' पाठ मिलता है। सभव है वे भी जम्बू रास के रचयिता 'धम्म' कवि की ही रचना हो। इनमे से 'स्थूलभद्र रास' ४७ पद्यों का है जिसे हमने 'हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ७, अक ३ मे प्रकाशित किया है। इस रास मे पाटलिपुत्र के राजा नंद के मत्री शकडाल के पुत्र स्थूलभद्र का जीवन-प्रसग वर्णित है। ये कोशा नामक वेश्या के यहा १२ वर्ष तक रहे थे, फिर जैन मुनि हो गए। मुनि अवस्था मे गुरु का आदेश लेकर फिर ये कोशा के घर जाकर चौमासा करते हैं और अपने दुर्धर शील का परिचय देते हैं। रास का आदि-अत इस प्रकार है—

आदि. —पणमवि सासण अंतह वाएसरि।
थूलिभद्द गुण गहणु सुणि वरह जुवेसरि ॥ १

अन्त: — बहुल कालु संजमु पालेहिं, चउदह पूरव हियइ धारेहि।
थूलि भद्द, जिण 'धम्मु' कहेइ, देवलोकि पहुतउ जाए वि॥

दूसरी कृति 'सुभद्रा सती चतुष्पदिका' ४२ पद्यों की है। 'हिन्दी अनुशीलन' वर्ष ६, अक १ से ४ में इसे प्रकाशित किया जा चुका है। उसमें जैन-जगत मे प्रसिद्ध १६ सतियों में से सुभद्रा सती का चरित्र चौपई छन्द में दिया गया है। प्रारभ और अन्त के पद्य इस प्रकार हैं—

ज फलु होइ गया गिरनारे, ज फलु दीन्हइ सोना भारे।
ज फलु लवि नवकारिहि गुणिहिं, त फलु सुभद्रा चरितिहि सुणिहिं ॥ १
सुभद्रा मदिर पहुती जाव, सासू ससुरउ हरखिउ ताव।

जिगवर धम्मु करइ एक चित्ते, जिग सामगु हुइ पर जयवंतो ॥ ४१
पढहि गुणहि जे जिणहरि देहि, ते निच्छइ समाद तरेहिं।
सुभद्रा सती चरितु संभलहिं, सिद्धि सुक्खु लीलइते लहहि ॥ ४२

इसी 'सुभद्रासती चनुष्पदिका' की तरह एक अन्य सती मयणरेहा का भी रास मिला है जिसे सुभद्रा चौपई के साथ ही प्रकाशित किया गया है। उसके प्रारभिक ५॥ पद्य प्राप्त नहीं हुए। कुल ३६ पद्यों की रचना है। दोनों रचनाएँ एक ही प्रति मे लिखी मिली हैं। मयणरेहा का चरित्र बड़ा कारुणिक है। उसके पति सरलस्वभावी जुगवाहु को, जुगवाहु के भाई कामी मणिरथ ने मार डाला और मयणरेहा का सतीत्व अपहरण करने का सोचा, पर वह अपने शील पर अटल रही।

उपरोक्त रचनाएँ साहित्यिक भाषा में हैं। बोलचाल की सरल भाषा की कुछ रचनाएँ भी इसी समय की प्राप्त हुई हैं जिनमे से 'जिनपतिसूरि बधावणा गीत' 'हिन्दी अनुशीलन' वर्ष १२, अक १ में मैंने प्रकाशित किया है। इसमें सं० १२३२ के एक प्रसग का उल्लेख है। अतः संभव है इसी के आसपास में यह गीत रचा गया हो। २० पद्यों के छोटे से गीत मे से प्रारंभ की कुछ पंक्तिया यहां उद्धृत की जा रही हैं—

आसी नयरि बधावणउ आयउ जिणपति सूरि जिनचंद सूरि
सीसु आइया लो बधावणउ बजावि, सुगुरु जिणपति सूरि आविया लो भाविणी
हूरिया गोवरि गोहलिया, मोतीय चउकु पुरेहु ॥ जिण० १
घरि घरि गूडिय उच्छलिया, तोरणि बुंदरवाल। जिण० २
करड कसीनिय मालरिया, घाघरिया भगकार ॥ जिण० ३
धनिए माई सलाखणी ए, जायउ जिणपति सूरी।
तिहुयणे जगि जसु धवलिया ले ॥ ४
'हाले महनो' इम भगइ, (सपइ होमेइ काई बालइ चादिकि चादणउ)
सग्रह मणोरह पूरि ॥ जिण० ५

ऐसे ही जिनपतिसूरिजी के दो और गीत श्रावक कवि रयण और भत्तु के रचित हमारे ऐतिहासिक जैन काव्य-सग्रह, मे प्रकाशित हैं। इनमे सं० १२७७ मे सूरिजी के स्वर्गवास होने का उल्लेख है इसलिए इनके आसपास की ही रचना है। दोनो गीतों में कई पद्य तो समान से हैं।

सवतोल्लेख वाली अन्य रचनाओं मे आबू रास, रेवतगिरिरास उल्लेखनीय हैं। इन दोनो रासो मे आबू और गिरनार तीर्थ पर मन्त्रीश्वर वस्तुपाल तेजपाल ने सघ सहित यात्रा कर के मंदिर बनवाये थे, उनका उल्लेख है। आबू रास स०

१४२५ के लगभग की लिखी हुई पूर्वोक्त जीवदयारास वाली प्रति में हमें प्राप्त हुआ था और उसे राजस्थान रिसर्च सोसाइटी, कलकत्ता, के मुख पत्र 'राजस्थानी' भाग ३, अक १ मे प्रकाशित किया गया है। ५५ पद्यों के इस रास की रचना स० १२८९ में हुई। इसका रचयिता पाल्हण[1] कवि प्रतीत होता है। आदि अत के कुछ पद इस प्रकार हैं—

आदिः—पणमेविणु सामिणि वाएसरि, अभिनवु कवितु रयं परमेसरि।
नदीवरधनु जासु निवासो, पभणउ नेमि जिणंदह रासो॥ १
गूजर देसह मज्झि पहाण, चड्डावती नयरिवक्खाण।
वावि सरोवर सुरहि सुखोजइ, बहुयारामिहि ऊपम दीजइ॥ २

अन्त—बार सवच्छरि नवमासीए (१२८९), वसंत मासु रभाउळ दीहे।
एहु रासु विस्तारिहि जाए, राखइ सयळ संघ अंबाए॥ ५४
राखइ जाखु जु आछइ खेडइ, राखइ ब्रह्म-सति मूढेरइ॥ ५५

'रेवतगिरिरास' श्री विजयसेनसूरि रचित है। इसमे ४ कड़व (क) है जिनमें क्रमश. २०, १०, २२ और २० पद्य हैं। गिरनारतीर्थ-वर्णन के कुछ पद्य नीचे दिए जा रहे हैं।

रेवतगिरिरासः—अगुरु अजए अनिलीय अंबाडय अकुल्लु।
उवरु अवरु आमलीय, अगरु असोय अहल्लु॥ १५
करवर करपट करुणतर, करवदी करवीर।
कुडा कडाह कयब कड, करब कदलि कंपीर॥ १६
वेयलु वजलु बउल वडो, वेडस वरण विडग।
वासती वीरिणि विरह, वसियाली वण वग॥ १७
सीसमि सिवलि सिरसमि, सिंधुवारि सिरखंड।
सरल सार साहार सय, सागु सिगु सिणदड।। १८
पल्लव फुल्ल फलुल्लसिय, रेहइ ताहि वणराइ।
तहिं उज्जिलतलि धम्मियह, उल्लटु अंगि न माइ॥ १९

कड़वः—जिम जिम चडइं तडि कडणि गिरनारह।
तिम तिम ऊडइ (खेह) जण भवण संसारह।
जिम जिम सेउजलु अगि पालाट ए।
तिम तिम कलिमलु सयलु ओहट्ट ए।

---

[1] 'जैन गुर्जर कविओ, भाग ३, पृष्ठ ३९८ मे इसका रचयिता राम (?) लिखा है पर मेरे ख्याल से राम के कहने से पाल्हण ने बनाया है। 'रामवयण पाल्हण पुन कीजै'। आबू रास का अपर नाम नेमिरासो भी है।

जिम जिम वायइ वाउँ तहि निज्झरमीयलु ।
तिम तिम भव दाहो तक्खणि तुट्टइ निच्चलु ॥ २
कोइल कलयलो मोरकेकारवो ।
सुमए महुयर महुरू गुजारवो ।
पाज चडतह सावयालोयणी ।
लाखारामु दिसि दीसए दाहिणी ।
जलद-जाल-वंबाले नीभरणि रमाउलु ।
रेहइ उज्जिलसिहर अलिकज्जल सामलु ॥ ३
बहल वुट्ठधातुरस भेउणी, जत्थ भलहलइ सोवन्नमइ मेउणी ।
जत्थ दिप्पति दिवो सही मुदरा, गुहिर वर गरुय गंभीर गिरि कंदरा ॥
जाइ कुट्ट विहसंतो ज कुसुमिहि संकुलु ।
दीसइ दस दिसि दिवसो किरि तारामडलु ॥ ४
मिलियन वलवलि दल कुसुम भलहालिया ।
ललिय सुरमहिल-वय-चलए-तल-तालिया ।
गलियथल कमलमयरंद जल कोमला ।
विउल सिलवट्ट मोहूनि तहि समला ।
मणहर-धणु-वण-गहणे रसिर-हसिय किंनग ।
गेउ मुहुर गायनो सिरि नेमि-जिणेसरा ॥

'रेवतगिरिरास' प्राचीन गुर्जर काव्य-सग्रह में प्रकाशित हो चुका है। यद्यपि उसमें रचनाकाल का स्पष्ट उल्लेख नही है पर गिरनार के वस्तुपाल तेजपाल मन्दिर की प्रतिष्ठा सं० १२८७ मे हुई थी अतः इस रास का रचनाकाल भी वही है।

अब उन रचनाओ का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है, जिनमें रचनाकाल उल्लेख तो नही है पर १३ वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध की रचनाएँ हैं।

१. शातिनाथरास– इसकी एक अपूर्ण प्रति जैसलमेर भंडार में मिली है। इसके प्रारंभ मे जिनपतिसूरि के प्रतिष्ठित खेड नगर के श्रावक उद्धरण-कारित शातिनाथ जिनालय[1] का उल्लेख है। यह प्रतिष्ठा स० १२५८ में हुई थी। इस-लिए इसका रचनाकाल भी इसी के आसपास का है और उसका रचयिता खरतरगच्छ का कोई विद्वान ही है। प्रारभ के दो पद्य उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

---

[1] देखें—जैन सत्यप्रकाश में प्रकाशित मेरा लेख।

पंचमु भरह नरिंदो जिणवइ सोलसमो।
संति सुहंकर कंदो, पणमिय पयडियनउ ॥
चरिउ किंपि पभणउं, तसु नाहह,
गुरु चूडामणि मुविय पायह।
तं निसुणंतह भवियह सवणिइं,
भरियहिं अमिय रसायण भ धणिउं ॥१
खेड नयरि जो संति उद्धरणि कराव्यु।
विहि समुदय समुभत्ति जिणवइ सूरि ठावियु ॥ २

खेड नगर जोधपुर राज्य में है अतः यह रचना राजस्थान में ही लिखी गई, निश्चित है। जिन जिनपतिसूरि ने अपने उपरोक्त खेड़ नगर में शांति-जिनालय में प्रतिष्ठा की थी उन्हीं के पट्टधर जिनेश्वरसूरि रचित 'महावीर जन्माभिषेक, श्री वासुपूज्य बोलिका, चर्चरी पद्य ३०, शांतिनाथ बोली' आदि प्राप्त हैं। 'महावीर जन्माभिषेक' १४ पद्यों की सुन्दर कृति है जिसमें भगवान महावीर के जन्माभिषेक का वर्णन है। तिलोत्तमा आदि अप्सराओं के नृत्य-गान संबंधी ३ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

वर रंभ तिलुत्तम अच्छराउ, नच्चंति भत्ति भर निब्भराउ।
गायंति तार हारुज्जलाइं, तुह चरियइं जिणवर निम्मलाइं ॥ ८
वज्जंति ढक्क टवक्क बुक्क, कंसाल ताल तिलि माह हुक्क।
उप्पित इंत सुरवर विमाण, नह मंडनि दीसहिं पत्तर जाण ॥ ६
जय जय रवु केवि करति देव, जोडिय कर सपुड करहिं सेव।
रिवि अट्ठ अट्ठ वर मगलाइ, तुह पुरउ करहिं कय मगलाइ ॥ १०

२ जिनपतिसूरिजी के अन्य एक विद्वान शिष्य सुमति गणि रचित 'नेमि-रास' उपलब्ध हुआ है जो ५७ पद्यों का है। सुमति गणि की दीक्षा सं० १२६७ में हुई थी और उनकी विद्वत्तापूर्ण कृति गणधर सार्धशतक बृहद्वृत्ति की रचना सं० १२६५ में हुई। इसलिए प्रस्तुत रास की रचना भी इसी बीच में हुई है। इसमें बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित्र वर्णित है। विषय-सुखों के संबंध में कहा गया है—

विसय सुक्खु कहिं नरय दुवारु, कहिं अनंत सुहु संजम सारु।
भनउ बुरउ जाणंत विचारइ, कंगिणि कारणि कोडि कुहारइ ॥ ३८
पुणवि भणइ हरि गाढु करेवि, नेमि कुमारह पइ लगेवि।
माणिय इक्कु पसाउ करिज्जउ, वाणिय कवि मरव परिणिज्जउ।

प्रस्तुत रास 'हिन्दी-अनुशीलन' वर्ष ७, अंक १ में प्रकाशित किया जा चुका है।

अपभ्रंश भाषा में सबसे प्राचीन बारहमासा जिनधर्मसूरि कृत 'बारह-नावउ' भी १३ वीं शताब्दी की रचना है जो पाहण भंडार की ताड़पत्रीय प्रति से नकल कर के, हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ६, अंक ४ में प्रकाशित किया है। सं० १४२५ के आसपास वाली प्रति में पाल्हण कवि रचित 'नेमिनाथ बारह-मासा' है। आबू रास के ५३ वें पद्य के अन्त मे 'पाल्हण' नाम आता है। अतः संभव है दोनों रचनाएँ एक ही कवि की हो। इस स्थिति मे इस बारहमासा का रचनाकाल सं० १२८६ के आसपास का निश्चित होता है। श्रावण मास के वर्णन वाला पद्य नीचे दिया जा रहा है—

सावणि सघण घुडुक्कइ मेहो, पावसि पत्तउ नेमि विछोहो।
दद्दर मोर लवहि असंगाह, दह दिह बीजु खिवइ चउवाह ॥
कोइल महुर वयणु चवए सइ, विवीहउ घाह करेई।
सावणु नेमि जिणिंद विणु, भणइ कुमरि किम गमणउ जाए ॥ २

यह बारहमासा १६ पद्यो का है। पहले एव १५ वें पद्य में कवि का नाम आता है। उन दोनों पद्यों को नीचे उद्धृत किया जाता है—

कासमीर मुख मंडण देवी, वाएसरि पाल्हणु पणमेवी।
पदमावतिय चक्केसरि नमिउ, अंबिक देवी हुउ वीनवउ ॥
चरिउ पयासउ नेमि जिण केरउ, कवितु गुण धम्म निवासो।
जिम राइमइ विओगु भओ, 'बारहमास' पयासउ रासो ॥ १
जो जादवकुल मंडण मारो, जिणि तिणि चडि परिहरिउ ससारो।
कुमरि तजिय तपुलउ गिरनारे, सिधि परिणउ गउ मोख दुवारे ॥
जगु परिमलु पाल्हणु भणए, तसु पय पणुदिण भति करेहु।
मण वंछिउ फलु पाविजए, धुय मम सरिसु वयणु फुडु एहु ॥ १५
इणि परि भणिया बारममासा' पढत सुणतह पूजउ आसा।
रायमइ नेमिकुमर वहु चरिउ, सखे विण कवि इणि परि कहिउ।
अंबिक देवि सासण देवि माई, सघ सानिधु करिजउ समुदाई ॥ १६

जिनेश्वरसूरि के शिष्य श्रावक जगड रचित 'सम्यक्त्व माई चौपई' ६४ पद्यो की प्राचीन गुर्जरगौड सग्रह मे प्रकाशित है। यह चौपई छंद में है। इसी तरह दोहा छद मे रुद्रपल्लियगच्छ के अभयसूरि के शिष्य पृथ्वीचन्द्र कवि ने 'मातृका प्रथमाक्षरदोहक' नामक ५८ दोहों की रचना 'रस-विलास' के नाम से की है। अभयदेवसूरि ने स० १२८५ मे जयन्त-विजय काव्य बनाया जो निर्णयसागर प्रेस से छप चुका है, अतः 'रस-विलास' का रचनाकाल भी इसी के आसपास का माना जा सकता है। प्रारम्भ और अंत के २–२ दोहे नीचे दिए जा रहे हैं —

आदि—अप्पइं अप्पयह बुझिकर, जो परप्पइ लीगु।
सुज्जि देव अम्हह सरगु, भवसायर पारीगु ॥ १
माई अक्खर घुरि घरिवि, वर हूहय छदेण।
'रस विलास' आरंभियउ, सुकवि पुहवि चन्देण ॥ २

अन्त—रुद्दपल्लिगच्छह तिलय, अभयसूरि सीसेण।
'रस विलासु' निप्पाइयउ, पाइय कव्वरमेण ॥ ५७
'पुहविचद' कवि निम्मविय, पढि दूहा चउपन्न।
तसु अणु सारिहि ववहरहि, पसरइ कित्ति खन्न ॥ ५८

जिनपतिसूरिजी के शिष्य वीरप्रभ का समय १३ वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। उनका रचित 'चद्रप्रभ-कलश' प्राप्त हुआ है। उपरोक्त कई रचनाओ की भाँति इसकी भाषा भी अपभ्रंश-प्रधान है। इसमे आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ के जन्माभिषेक का वर्णन है। बीच के तीन पद्य नीचे दिए जा रहे हैं—

चारु मदार मालहिं पहु अच्चए, घुसुहिं कप्पूर हरि चदणह चच्चए।
*सिद्ध गधव्व गायति किन्नरवरा, रभ पमुहाउ नच्चति तहि अच्छरा ॥ १३*
केवि उप्फलहिं गयणयलि हुल्लुपफला, केवि हरिसेण गज्जति जिमवयगला।
अट्ठ मगल्ल किवि लिहहि किवि चामरा, पहु उभय पासि ढालति तित्थामरा ॥ १४
सख वहुसय पडु पडह झल्लरि महा, ढक्क टवक्क बुक्काहु डुक्का तहा।
ताल कसाल मद्दल तिलिम काहला, केवि वायति कह हरिस कोलाहला ॥ १५

१३ वी शताब्दी को कतिपय रचनाओ का विवरण ऊपर दिया गया है। इनमे कुछ की भाषा अपभ्रंश ही है, कुछ अपभ्रंश प्रभावित राजस्थानी और कुछ बोलचाल की राजस्थानी को रचनाएँ हैं। रचनाएँ विविध प्रकार की हैं। अपभ्रंश से उनकी परम्परा जा मिलती है और परवर्ती रचनाओ पर तो इनका प्रभाव होना स्वाभाविक ही है। कुछ रचनाएँ राजस्थान मे, तो कुछ गुजरात मे रची गई हैं। पर दोनो स्थानों में रची गई रचनाओ मे भाषा का कुछ अन्तर नही है। ४ पद्यो की छोटी सी रचना से लेकर २०५ पद्यों तक की रचनाएँ इनमे हैं। कुछ रास हैं, तो कुछ चौपाई, धवल, गीत, मातृकाक्षर, बावनी, जन्माभिषेक, कलश, बोली आदि विविध नामो वाली रचनाएँ इस समय की प्राप्त हैं। कुछ रचनाएँ और भी मिली है पर उनका समय निश्चित नही किया जा सका है। ये सभी रचनाएँ श्वेताम्बर संप्रदाय के कवियो की हैं। दिगंबर सप्रदाय में भी इस समय (११ वी से १३ वी शताब्दी) तक अपभ्रंश में काफी रचनाएं रची गईं। उनमें कई तो बडे-बडे काव्य हैं। इस काल की कोई गद्य रचना प्राप्त नही हुई है।

१४ वी शताब्दी में भी पूर्ववर्ती रचना-प्रकारो की परम्परा बराबर चालू रही है। कई रास, चौपई, मातृका, चर्चरिका आदि रचनाएँ रची गई हैं। उनका यहाँ संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

सं० १३०७ मे भीमपल्ली (भीलडिया) के महावीर जिनालय की प्रतिष्ठा के समय अभयतिलक गणि ने २१ पद्यों का 'महावीर रास' बनाया। प्रतिष्ठा-महोत्सव का वर्णन करते हुए कवि लिखता है कि मडलिक राजा के आदेश से श्रावक भुवनपाल ने महावीर जिनालय को स्वर्णमय दंडकलश से विभूपित कर प्रतिष्ठा करवाई, यथा—

तसु उवरि भवणु उत्तग वर तोरणं, मंडलिय राय आएसि अइ सोहणं।
साहुणा भुवणपालेण काराविय, जगधरह साहु कुलि कलस चाडाविय॥ ६
हेम धयदंड कलसो तहि कारिउ, पहु जिणेसर सुगुरु पासि पयठाविउ।
विक्कमे वरिस तेरहइ सत्तुत्तरे (१३०७) सेय वयसाह दसमीई सुहवासरे॥ ७
इह महे दिसो दिस सघ मिलिया घणा, दसण घण एहि वरिसत जिम्व नवघणा।
ठाणि ठाणे पणच्चंति तरुणी जणा, काणि रमणि नेउरा राव रजिय जणा॥ ८
घर घरे बद्ध नव वंदणय मालिया, उब्भविय गुड्डिया चउक परिपूरिया।
आदरिणु संघु सयलोवि संपूइओ, सच्च दरिसण नयर लोगु सम्माणिओ॥ ६
रगि खिल्लति तहि खेलया, महुरसरि गीउ गायति वर बालया।
सीलणो दडनायगु वरो हरसिओ, वीर भवणेण पूरिय पयन्नो हुउ॥ १०

उपरोक्त अभयतिलक के गुरुभ्राता (खरतरगच्छाचार्य जिनेश्वरसूरि के शिष्य) लक्ष्मीतिलक उपाध्याय बड़े अच्छे विद्वान हो गए हैं जिन्होंने स० १३११ पालणपुर में १०१३० श्लोक-परिमित प्रत्येक बुद्ध-चरित्र नामक महाकाव्य बनाया एव १३१७ जालोर मे श्रावक धर्म प्रकरण बृहत् वृत्ति १५१३१ श्लोक परिमित बनाई। इनके रचित 'शांतिनाथ देवरास' नामक राजस्थानी काव्य (६० पद्यो का) हमारे सग्रह की (स० १४६३ लि.) प्रति में है। उसमें ४४ पद्यो तक तो १६वे तीर्थकर शांतिनाथ का चरित्र संक्षेप में दिया है। उसके बाद खेड नगर मे उद्धरणकारित शाति जिनालय की प्रतिष्ठा स० १२५८ में जिनपतिसूरिजी ने की और स० १३१३ मे जालोर मे उदयसिंह के राज्य मे शाति जिनालय की प्रतिष्ठा जिनेश्वरसूरि ने की, उसका ऐतिहासिक उल्लेख है। इस रास की रचना स० १३१३ के आसपास ही हुई है। यह रास सभवतः जालोर के शांतिनाथ जिनालय मे खेला भी गया था। दोनों प्रतिष्ठाओं सबंधी ऐतिहासिक गद्य और अतिम ३-४ पद्य नीचे दिये जा रहे हैं।

तसु पडिम गुरु महिम निरुपडिम रुवया ।
सापटिहि नदणि णउ उद्धरिणि कारिया ।
खेडि जिणतय सूरि पासि पयटाविया ।
लहिजि परि दिवसि सवि उच्छवा सगया ।। ४५
विक्कमे वच्छरे बारहट्ठावने (१२५८) मह बहुत पचमी दिवस
करि सोवने सोमनदेवराय कारिय पयट्ठविहि ।
अप्पणा मक्रि हो ऊण गुरु महा निही ।। ४६
धम्म पुरनट्टपुरु किनु गोयह पुर कि न रामाण पुर किनु चच्चर पुरं ।
कित्तु विहि सघ पुर किनुदाणह पुर तहि महे स किय ग्रेम खेडप्पुर ।। ४७
जात उरि उदयसिह रज्जि सोवनगिरि, उवरिस्मे सति ठावि उजिणेसर ।
सुरी पवर पासाय मझमि सवच्छरे फगुणसिय चउत्थि तेरहइ तेरुत्तरे (१३१३) ।। ४८
जे सतीसरबारि परिनंच्चहि गायहि विविह ।
ताह होउ सविवार, खेना खेलो खेम कुसल ।। ५७
एहु रासु जे दिति खेला खेली अइ कुसल ।
वंम सति तह मति, मेघनादु विखेतल करउ ।। ५८
एहु रासु बहु भासु "लच्छितिलय" गिणि निम्मयउ ।
ते लहति सिववासु, जे नियमणि ऊलटि दियहि ।। ५९
महि कामिणि रवि इदु कुंडल जुयलिण जानहइ ।
ताम मति जिण चद्द अणुइय रासुविचिरजयउ । ६०

राजस्थान में खरतरगच्छ का प्रभाव ११ वीं शताब्दी से ही उत्तरोत्तर बढ़ता चला गया और तपागच्छ का प्रभाव गुजरात में। १२ वी से १३ वीं शताब्दी तक और भी कई गच्छों का राजस्थान में अच्छा प्रभाव था। कई आचार्य राजमान्य थे। उनमे से 'धर्मसूरि' साकम्भरि के चौहान राजाओ से सम्मानित हुए हैं। उनकी सवधित कई रचनाओं का विवरण पाटण जैन भडार सूची में छपा है। धर्मसूरि के शिष्य आणदसूरि और उनके शिष्य अमरप्रभसूरि रचित द्वादश भाषा (ढाल) 'निवद्धतीर्थमाल स्तवन' नामक ३६ पद्यों का एक स्तवन मिला है जो स० १३२३ मे रचा गया। उसमें पहले ३ ढालो तक नो शाश्वत जिनालयों का विवरण है। चौथी से ७ वी ढाल तक में अनेक जैन तीर्थस्थानों के नाम दिए हैं। फिर और भी जहाँ कही जैन मंदिर हो, ३ भवन के जिनालयों को नमस्कार करके १० वीं ढाल में कवि ने अपनी गुरु-परम्परा और रचना-समय का उल्लेख किया है। जैन तीर्थों संबंधी चैत्य परिपाटी और तीर्थमालाओं का निर्माण १४ वी शताब्दी से अधिक होने लगता है। प्राकृत, सस्कृत में तीर्थों सम्बन्धी स्तोत्र, कल्प आदि मिलते ही हैं पर राजस्थानी

भाषाओं में १४वी शताब्दी से तीर्थमालाओं और चैत्य परिपाटियों की परंपरा प्रारम्भ होकर क्रमशः उसकी रचनाओं की सख्या बढ़तो ही गई है। यहाँ प्रस्तुत तीर्थमाला के अंतिम ४ पद्य दिए जा रहे हैं—

दसमी भाषा

नवि मागउ सुर रिद्धि, सुर नर खयर रज्जु नवि।
इक तुम्ह पय सेव, मागउ सामिय भविहिं भवि ॥ ३३
सायंभरि नर राय, पणय पाय धम्मसूरि गुरो।
तसु पटि उदय गिरिंद, आणद सूरि गुरु दिवम यरो ॥ ३४
अमरप्रभ सूरि नामु, तासु सीसि सथव रयउ।
तेरह तेवीसमि (१३२३) सिरिचदुज्ज्वल जसु दियओ ॥ ३५

एकादशी भाषा

सिवसिरि मणिमाला वन्निया 'तित्थमाला',
भव गय भव जाता त्ति कित्ती विसाला।
सिव सुह फल रक्खं देइ तत्त परक्खं,
निहणउ भव-दुक्खं वंछिय होउ सुक्खं ॥ ३६

इसी तरह बारह भाषा या ढालो में 'समरारास' रचा गया है जिसका परिचय आगे दिया जायगा। स० १३३२ में खरतरगच्छ के जिनप्रबोधसूरिजी ने मुनि राजतिलक को वाचनाचार्य पद दिया था। उनके रचित शालिभद्ररास ३५ पद्यों का प्राप्त हुआ है। इसमें राजगृही के समृद्धिशाली सेठ शालिभद्र का चरित्र वर्णित है। शालिभद्र जैसा जबरदस्त भोगी था, वैसा ही योगी भी बना। उसने भगवान महावीर के पास दीक्षा ग्रहण कर कठोर तप किया। 'जैनयुग' वर्ष २, पृष्ठ ३७० में यह रास प्रकाशित हो चुका है। आदि अंत के ३ पद्य यहाँ उद्धृत किए जाते हैं।

आदि—पभणपुरि पहु पास-नाह, पणमेविणु भत्तिए,
सयल सभी हिम रिद्धि विद्धि, मिमइ जसु सत्तिए।
हउं पभणि गिरि सालिभद, मुणि-तिलयह रासू,
भवियनि- सुणिहु जे तुम्ह, हुइ सिवपुरि वासू ॥ १

अन्त —रजनिलय गणि संथुणइ, वीर जिणेसर गोयम गणिहर।
सालिभद्द तहि धनउ मुणिवर, सयल साध दुरियइ हरउं ॥ ३४
सालिभद्द मुणिवर रासू, जे निय उल्लासय सैनादिसी।
तेसि सासण देवी, जगुयउ सिय मनी ॥ ३५

स० १३३१ में जिनेश्वरसूरिजी का स्वर्गवास हुआ। उनके दीक्षा प्रसंग का बड़ा

हो सुन्दर वर्णन कवि सोममूर्ति ने 'जिनेश्वरसूरि संयमश्री विवाह वर्णन रास' में किया है। ३३ पद्यों का यह रास हमारे 'ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह' में प्रकाशित हो चुका है। दीक्षा को सयमश्री नाम देकर उसके साथ जिनेश्वर-सूरिजी के विवाह का आध्यात्मिक रूपक उद्भावित करके कवि अम्बडकुमार (जिनेश्वरसूरि का बाल्यावस्था का नाम) द्वारा माता को कहलाता है कि मैं सयमश्री के साथ विवाह करूँगा। माता, मेरा उसी के साथ विवाह करवाओ ! फिर बरात प्रस्थान करती है और खेड नगर मे जाकर दीक्षा रूपी विवाह होता है, उसका वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

'अवडु' पभणइ माइ सुणि, परिणिसु सजम लच्छि।
इक्कुजुए पुहविहि सलहियइ, जायउ 'लखमिणि' कुच्छि ॥ १५
अभिनव ए चालिय जानउत्र, 'अवडु' तणइ वीवर्णहि।
अप्पुणु ए धम्मह चक्कवइ, हूयउ जानह माहि ॥ १६
आवहि आवहि रंग भरि, पच-महव्वय राय।
गायहि गायहि महुर सरि, अट्ठय पवय माय ॥ १७
अढार सहसह रहवरह, जोत्रिय तहि सीलग।
चालहिं चालहिं खति सुह वेगिहिं चग तुरग ॥ १८
कारइ कारइ 'नेमिचदु' 'भडारिउ' उच्छाहु।
वाघइ वाघइ जान देखि, 'लखमिणि' हरषु अवाहु ॥ १९
कुमलिहि खेमिहि जानउत्र, पहुतिय खेड' मज्झारि।
उच्छवु हूयउ अइ पवरो, नाचइ फरफर नारि ॥ २०
'जिणवइ' सूरिहि मुखि पवरो, देसणु अमिय रसेण।
कारिय जीमणवार तहि, जानह हरिस भरेण ॥ २१
'सति जिणेसर' वर भुयणि, माडिउ नदि सुवेहि।
वरिसहि भविय दाण जलि, जिम गयणगणि मेह ॥ २२
तहि अगयारिय नीपजइ, झाणानलि पजलति।
तउ सवेगहि निम्मियउ, हथलेवउ सुमहूत्ति ॥ २३
इणि परि अवडु' वर कुयर, परिणइ सजम नारि।
वा जइ नदीय तूर घण, गूडिय घर घर बारि ॥ २४

इसी सोममूर्ति कवि के रचित 'जिन प्रबोधसूरि चर्चरी' नामक १६ पद्यों की रचना मिली है। चर्चरी-सज्ञक रचनाएँ थोडी सी ही मिली हैं। इसमें जिन-प्रबोधसूरि का आचार्य पद - स्थापन का उल्लेख है। अतः यह भी स० १३३२ के लगभग की रचना है। आदि-अत का एक-एक पद्य इस प्रकार है—

आदि —विजयउ विजयउ कोडि जुग, जिणप्रबोधसूरि राउ।
विघुरतवर सूरि गुण, रयण झलत्रिय काउ ॥ १

अन्त — जिणप्रबोधसूरि गुरुतणिय, जे चाचरि पभणंति ।
'सोममुत्ति' गणि इम भणइ, पुण्य लच्छिति लहंति ॥ १६

इन सोममूर्ति की 'गुरावली रेलुआ' और 'जिनप्रबोधसूरि बोलिका' नामक १३ और १२ पद्यो की और रचनाएँ मिली हैं।

रत्नसिंहसूरि के *शिष्य विनयचन्द्रसूरि भी अच्छे विद्वान एवं कवि थे।* स० १३३८ मे उन्होने 'बारहव्रत रास' ५३ पद्यो का बनाया जो जैनयुग में छप चुका है। इनकी रचित 'आणद प्रथमोपासक सधि' नामक रचना भी प्राप्त है। धर्मदास गणि के प्राकृत उपदेशमाला के आधार से 'उवएसमाल कहाणय छप्पय' नामक ८१ छप्पय छदो की रचना प्राचीन गुर्जर काव्य-सग्रह में प्रकाशित हुई है वह रत्नसेनसूरि के शिष्य उदयधर्म की रचना है, अत: वे विनयचंदसूरि के गुरु-भ्राता होगे। विनयचंद्रसूरि रचित 'नेमिनाथ चतुष्पदिका' प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह मे छपी थी। उसमे नेमिराजुल के बारहमासा का सुन्दर वर्णन चौपई छन्द मे है। ४० पद्यो *का यह प्राचीन बारहमासा है* जो श्रावण से आरम्भ होकर आसाढ मास तक मे होने वाले राजुल के मनोभावो एव प्रकृति का चित्रण है। श्रावण और चैत्र वर्णन का एक-एक पद्य उदाहरण के रूप मे दिया जा रहा है।

श्रावणि सरवणि कडुय मेहु गज्जइ, विरहि रि ! झिज्झई देहु।
विज्जु झबक्कइ रक्खसि जेव नेमिहि विणु, सहि ! सहियइ केम ॥ २
चैत्रमासि वणसइ पंगुरइ वणि-वणि कोयल टहुका करइ।
पचआण करि धनुष धरेवि वेभइ मोडी राजल-देवि ॥ २६

स० १३२७ में रचित 'सप्तक्षेत्रीरास' (११९ पद्यो का) प्राचीन गुर्जर काव्य-सग्रह मे प्रकाशित हुआ है। उसमें रचयिता का नाम स्पष्ट नही है। जैन-धर्म में साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका, जिन-मदिर, मूर्ति और ज्ञान ये ७ धार्मिक क्षेत्र माने जाते हैं। इनका वर्णन इस रास मे है। जिन-पूजा के प्रसग से इस मे आभूषणो, फूलो आदि का अच्छा वर्णन है। उस समय जिन-मंदिर में जो ताला (तालबद्ध) रास और लकुटी (डडिया) रास खेले जाते थे उसका भी बहुत अच्छा विवरण इसमें मिलता है। यहाँ उसी सम्बन्ध के ३ पद्य उद्धृत किए जाते हैं—

बइसइ सहूइ श्रमणसघ, सावय गुणवंता।
*जोयइ उच्छवु जिनह भुवणि, मनि हरष धरंता।*
तीछे तालारास पडइ, बहु भाट पढंता।
अनइ लकुटा रास जोईइ, खेला नाचता ॥ ४८

सविहू सरीषा सिणगार, सवि तेवड तेवडा।
नाचइ धामीय रंग भरे, तउ भावइ रूडा।
सुललित वाणी मधुरि सादि जिणगुण गायंता।
तालमानु छंदगीत, मेलु वाजित्र वाजंता॥ ४६
तिविला भालरि भेरु, करडि कंसाला वाजइं।
पचशब्द मगलीकहेतु जिण भुवणइ छाजइ।
पचशब्द वाजति भाटु, अवर वहिरती।
इण परि उच्छवु जिण भुवणि, श्री सघु करंतउ॥ ५०

सं० १३४१ में रचित 'स्तभतीर्थ अजित स्तवन' नामक २५ पद्यों का (स्तवन) हमारे सग्रह में है।

स० १३४१ में ही जिनप्रबोधसूरि के पट्ट पर जिनचद्रसूरि स्थापित हुए। उनके सम्बन्ध में हेमभूपण मणि रचित 'युगप्रधान श्री जिनचंद्रसूरि चर्चरी' नामक २५ पद्यों की रचना मिली है और श्रावक लक्खमसिह ने 'जिनचंद्रसूरि-वर्णनारास' ४७ पद्यो का बनाया है। इसमे उक्त सूरिजी के जन्म, दीक्षा, पदोत्सव एव प्रतिष्ठा कराने का वर्णन है। अंत में कवि ने उनकी गुरु-परम्परा भी देदी है। रास के प्रारम्भ और अंत के दो पद्य नीचे दिए जाते हैं—

आदिः—पास जिणेसर वीतराहु, पणमे विणु मत्ति
कर जोडवि सुय देवि नमिवि, करउ विन्नती।
चरिउ रइसु मणि रावहसु, पहु जिणचदसूरि
सचहु भवियहु भावसारु, गय कलिमलु दूरि॥ १
अन्तः—जुग पहाण पहु जिणचंदसूरि,
पयट्ठउ निय पयाव जसु पूरि।
"लक्खम सीहु" वन्नवइ अवधारि,
अम्ह हिव दुग्गइ गमणु निवारि॥ ४७

जिनचन्द्रसूरिजी सबधी चतुष्पदी आदि और भी कई रचनाएँ मिलती हैं पर उनमें रचयिता का नाम नही है। 'जिनचन्द्रसूरि फागु' नामक २५ पद्यो की एक रचना मिली है, जिसके बीच का भाग त्रुटित है। फागु काव्यों में यह सबसे पहली रचना है। मोद-मन्दिर नामक खरतरगच्छीय कवि की 'चतुर्विशति जिन चतुष्पदिका' नामक २७ चौपइ छन्द की रचना प्राप्त है। उनकी दीक्षा स० १३१० में हुई थी। अज्ञात-नाम कवियो की अनेक रचनाएँ १४ वी शताब्दी की प्राप्त हुई हैं पर उनमें रचनाकाल और कवि का नाम नही है। ऊपर जिन रचनाओ का परिचय दिया गया है वे १४ वी शती के पूर्वार्द्ध

की रचनाएँ हैं अब उत्तरार्द्ध की कतिपय रचनाओं का परिचय दिया जा रहा है।

सं० १३६३ में प्रज्ञातिलक के समय में रचित कच्छुली रास, प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह में प्रकाशित हुआ है। यह एक ऐतिहासिक रास है। कोरंटा, जो जोधपुर राज्य में है, मे इसकी रचना हुई है—

तेर त्रिसठह (१३६३), रासु कोरिटावडि निम्मिउ।
जिणहरि दित सुणत मणवंछिय सवि पूरउ॥

स० १३६८ मे श्रावक कवि वस्तिभ रचित 'वीस विरहमान रास' जैन गुर्जर कवियो, भाग ५ मे छप चुका है और सं० १३७१ में गुणाकरसूरि रचित 'श्रावकविधिरास' भी 'आत्मानद शताब्दी-स्मारक-ग्रंथ' में छप चुका है। स० १३७१ मे ही समराशाह ने 'शत्रुजयतीर्थ' का उद्धार किया था, उसके संबध में अबदेवसूरि रचित 'समरारास' प्राचीन गुर्जर काव्य-सग्रह मे प्रकाशित हुआ है। यह ऐतिहासिक, भौगोलिक एव साहित्यिक दोनो दृष्टियो से वडा महत्व-पूर्ण है। सघ यात्रा और वसत-वर्णन के कुछ पद्य नीचे दिए जा रहे हैं—

मादलवम विरणा भुणि वज्जए। गुहिर भेरीय रवि अंबरो गज्जए।
नवय पाटणि नवउ रंगु अवतारिउ। सुखिहि देवालउ सखारी सचारिउ॥ ६

घरि बवसवि करि के वि समाहिया।
समर गुणि रजिउ विरलउ रहियउ।
जयतु कान्हु दुइ संघपति चालिया।
हरिपातो लडुको महाधर दृढ थिया॥ ७

पाठी भाषा—वाजिय सख प्रसख नादि, काहिल दुडु दुडिया।
घोडे चडइ सल्लारसार, राउत सी
तउ देवालउ जात्रि वेगि, घाघरिखु झमकइ।
सम विसम नवि गणइ कोइ, नवि वारिउ थक्कइ॥ १

मिजवाला घर धडहडइ, वाहिणि बहुवेगि।
धरणि धडक्कइ रजु ऊडए, नवि सूझइ मागो।
हय हीसइ आरमइ करह, वेगि वहइ वइल्ल।
साद किया थाहरइ अवरु, नवि देई बुल्ल॥ २

दसमी भाषा—रितु अवतरियउ तहि जि वसतो,
सुरहि कुसुम परिमल पूरतो, समरह वाजिय विजय ढवक।
सागु सेल सल्लइ सच्छाया,
केसूयकुडय क्यब निकाया, संघतेनु गिरिनाहइ वहए।

वातीय पूछइं तरुवर नाम,
वाटइ आवइ नव नव गाम, नयनी भरण माउलइं ॥ १

सं० १३७७ में जिनकुशलसूरि का पट्टाभिषेक हुआ। उसका वर्णन 'धर्म-कलश' मुनि ने ३८ पद्यों में किया है। यह 'जिनकुशलसूरि-पट्टाभिषेक रास' हमारे सम्पादित 'ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह' में प्रकाशित हो चुका है। आचार्य पद-महोत्सव का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

घरि घरि ए मंगलचार, पुन्न कलस घर घरि ठविय।
घरि घरि ए वदरवाल, घरि घरि गुडी ऊभविय ॥ २६
वज्जिय ए तूर गभीर, अबरु बहिरिउ पडिरयण।
नाचहिं ए अवलिअ बाल, रंजीय सुर धवला खेहिं ॥ २७
अणहिलि ए पुर मभारि, नर नारी जोवण मिलिय।
किसउ सु तेजउ साहु, जसु एवडउ उच्छव रलिय ॥ २८

घात.—धवल मंगल धवल मगल, कलय लाखे।
बज्जत घण तूर वर, महुर सदि नच्चइ पुरधिय।
वसुधारहि वर सति नर, केवि मेहु जेम मनहि रजिय।
ठामि ठामि कल्लोल भुणि, महा महोच्छवु मोय।
जुगपहाण पयसठवणि, पूरिय भगण लोय ॥ ३१

इसी समय में जिनप्रभसूरि नामक खरतरगच्छ के एक बहुत बड़े विद्वान शासन-प्रभावक आचार्य हो गए हैं जो स० १३८५ में मुहम्मद तुगलग बादशाह से दिल्ली मे मिले थे और वह इनकी विद्वत्ता से बड़े प्रभावित हुये थे। इन आचार्यश्री की रचित 'पद्मावती चौपई' ३७ पद्यों की प्राप्त हैं जो 'भैरव पद्मावती-कल्प' नामक ग्रंथ के परिशिष्ट न० १० में प्रकाशित हो चुकी है। चौपई छद मे पद्मावती देवी की स्तुति की गई है। पद्मावती देवी का महात्म्य-वर्णन करते हुए कवि कहता है—

वंझ नारि तुह पय झायंति, सुरकुमरोवम पुत्त लहंति।
निदूभदण जणइ विराउ, दूहव पावइ वल्लह राउ ॥ ३३
चिंतिय फल चितामणि मंति, तुज्झ पसायिं फलइ नियंतु।
तुम्ह पणुग्गह नर विखेवि, सिज्झइ सोलह विज्जाएवि ॥ ३४
रूपकंतिसोहग्गनिहाण, निव पूइयपय अमिजिय माण।
कवि वाईसर हुति ते धण्ण, जाह पउमि ' तु होहि पसण्ण ॥ ३५
तुह गुण अन न केणवि मुणिय, तहवि तुज्झ मइ गुणलव थुणिय।
माए जु पालइ जिणसिय सूरि, तार्य सघ मण वछिय पूरि ॥ ३६

पउमावई चउपई पढत. होइ पुरिस तिहुयणसिरि कन ।
रम्भ भणइ नियजसकप्पूरि, सूरदीय भवण जिणप्पहसूरि ।। ३७

जिनप्रभसूरिजी ने प्राकृत तथा सस्कृत मे तो अनेकों ग्रंथ बनाए ही हैं पर कुछ फुटकर गीत पदस्तवन अपभ्रंश और राजस्थानी में भी बनाए हैं। सं० १४२५ के आसपास की लिखी हुई जिस सग्रह-प्रति का पहले उल्लेख किया गया है उसमें जिनप्रभसूरिजी के तीर्थयात्रा का स्तवन और फुटकर गीत मिले हैं। साथ ही जिनप्रभसूरिजी के सम्बन्ध के भी ३ गीत मिले थे जो हमने 'ऐतिहासिक जैन-काव्य-सग्रह' में प्रकाशित कर दिए हैं। इनके पट्ट पर जिनदेव-सूरि स्थापित हुए। उनका भी एक गीत उनके साथ ही छप गया है। इस सग्रह-प्रति मे और भी अनेकों महत्त्वपूर्ण रचनाएँ कुछ पूर्ण और कुछ अपूर्ण प्राप्त हुई हैं। कवि छल्हु की 'क्षेत्रपाल द्विपदिका', 'पहाडिया राग', 'प्रभातिक नामावलि' आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं।

जिनकुशलसूरिजी के पट्ट पर जिन पद्मसूरिजी की पदस्थापना स० १३६० मे हुई। उनका 'पट्टाभिषेकरास' कवि सारमूर्ति ने २६ पद्यो का बनाया जो हमारे 'ऐतिहासिक-जैन-काव्य' में छप चुका है। इन जिनपद्मसूरि रचित 'स्थूलिभद्र फाग' प्राचीन गुर्जर काव्य मे छप चुका है जो २७ पद्यों की एक सुन्दर रचना है। वर्षा-वर्णन सबधी कुछ पद्य नीचे दिए जा रहे हैं—

झिरिमिरि झिरिमिरि झिरिमिरि ए, मेहा बरसति ।
खलहल खलहल खलहल ए, वाहला वहति ।
झबझब झबझब झबझब ए, बीजुलिय झबकइ ।
थरथर थरथर थरथर ए, विरहिणि मणु कपइ ।।
महुरगभीरसरेण मेह, जिम जिम गाजते ।
पचबाण निय कुसुमबाण, तिम तिम साजते ।
जिम जिम केतकि महमहत, परिमल विहसावइ ।
तिम तिम कामिय चरण लग्गि, नियरमणि मनावइ ।। ७
सीयल कोमल सुरहि वाय, जिम जिम वायते ।
माणमडफर माणणि य, तिम तिम नाचते ।
जिम जिम जलभर भरिय मेह, गयणगणि मिलिया ।
तिम तिम कामीतणा नयण, नीरहि झलहलिया ।। ८
भास—मेहारवभर ऊलटिय, जिम जिम नाचइ मोर ।
तिम तिम माणिणि खलभलइ, साहीता जिम चोर ।। ६

पउम कवि रचित 'शालिभद्र काक' (धर्म-मातृका) प्राचीन गुर्जर काव्य में छप चुके हैं और 'नेमिनाथ फागु' प्राचीन फागु संग्रह मे छप चुका है। सोलणु

कृत 'चर्चरिका' और अज्ञात कवि रचित मातृका चौपई भी 'प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह' में छपे हैं, संभवतः वे इसी शताब्दी की रचनाएँ हैं।

सं० १४३७ में लिखित 'स्वाध्याय पुस्तिका' की एक प्रति हमे जैसलमेर भंडार में प्राप्त हुई थी। उसमे अज्ञात कवियों के रचित कई कलश, बोली, कृपण नारो-संवाद, षटपद, जिनकुशलसूरि रेलुआ, सालिभद्र रेलुआ, गुरावली चौपई, जिन-चंद्रसूरि चतुष्पदी, वीरतिलक चतुष्पदिका, जिनप्रबोधसूरि चद्रायणा, धर्म-चरचरी, जिनेश्वरसूरि चंद्रायणा, गुरावली रेलुआ तथा समधरु कृत नेमिनाथ फाग, चारित्रगणि कृत जिनचंद्रसूरि रेलुआ आदि रचनाए हैं। वे भी १४ वी शताब्दी की ही हैं। पर उन सबका परिचय देने से यह लेख बहुत बडा हो जाएगा, इसलिए नहीं दिया जा रहा है।

'केशी गौतम संधि' एवं जयशेखरसूरि रचित 'शीलसंधि' आदि संधि-काव्य भी इसी शताब्दी से रचे जाने प्रारभ होते हैं और १७ वी शताब्दी तक वह परपरा जोरों से चली। उसका कुछ परिचय मैंने 'राजस्थानी' (निबंधमाला) मे प्रका-शित 'अपभ्रश भाषा के सन्धिकाव्य और उनकी परम्परा' शीर्षक लेख में दिया है। इसी तरह विवाहला काव्य की परम्परा भी इसी शताब्दी में प्रारंभ होती है और १८ वी शताब्दी तक चलती रही। उसका विवरण मैं अपने 'विवाहला और मगल-काव्य की परम्परा' शीर्षक लेख में दे चुका हूँ। फागुसज्ञक काव्यों की परम्परा भी इसी शताब्दी से प्रारम्भ होती है। उसका विवरण भी 'सम्मेलन पत्रिका' मे प्रकाशित कर चुका हूँ। उसके बाद फागु काव्यों का एक महत्वपूर्ण सग्रह मेरे मित्र डॉ० भोगोलालजी साडेसरा सम्पादित 'प्राचीन फागु' के नाम से महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बडौदा से छप चुका है। इसमे १४ वी शताब्दी से १८ वी शताब्दी तक के ३५ फागु काव्य हैं। इनके अतिरिक्त मुझे और भी फागु आदि काव्य मिले हैं जिनका विवरण फिर कभी प्रकाशित किया जाएगा।

धवल, उत्साह को प्रगट करने वाला एक मांगलिक गीत विशेष है। सं० १२७७ मे रचित 'जिनपतिसूरि धवल गीत' से ऐसे 'धवल' काव्यों की परम्परा चालू होती है जो १७ वी शताब्दी तक चलती है। उनका परिचय मैं 'विहार थियेटर' मे प्रकाशित 'धवलसज्ञक जैन रचनाऐं' नामक लेख में दे चुका हूँ।

रेलुआसज्ञक कुछ रचनाएँ १४ वी शताब्दी ही की मिली हैं। इसकी परम्परा आगे नही चली। प्राप्त रचनाओ का परिचय 'जैन-सत्य-प्रकाश' मे दिया जा चुका है। मातृकाक्षर कम से रचे हुए पद्यों की परम्परा 'बावनी' के नाम से

१३ वी शती से ही प्रारभ कर १६ वी शताब्दी तक चलती रही है। १४ वी शताब्दी मे रचित 'ग्रम्बिका देवी पूर्व भव वर्णन तलहरा' नामक ३० पद्यो की रचना 'हिन्दी ग्रनुशीलन' में मैंने प्रकाशित की है। 'तलहरा' नाम वाली यह एक ही रचना मिली है। राजस्थानी भाषा क जैन रचना-प्रकारो के सम्बन्ध में मेरा लेख ना० प्र० पत्रिका में द्रष्टव्य है।

१५ वी शताब्दी मे राजस्थानी साहित्य में एक नया मोड ग्राता है। इस शती की प्रारम्भ की कुछ रचनाग्रो मे ग्रपभ्रश का प्रभाव ग्रधिक है पर उत्तरार्द्ध की रचनाग्रो मे भाषा काफी सरल पाई जाती है। इस शताब्दी की रचनाएँ विविध प्रकार की हैं। बडे-बडे राम इमी शताब्दी से रचे जाने लगे। लोक-कथाग्रो को लेकर राजस्थानी भाषा में काव्य लिखे जाने का प्रारम्भ भी इसी शताब्दी मे हुग्रा। इस शताब्दी की सभी रचनाग्रों का परिचय यहां देना सम्भव नही, ग्रत कुछ प्रमुख कवियो ग्रौर रचनाग्रो का परिचय ही दिया जा रहा है।

मलधारी गच्छ के राजशेखरसूरि ने 'प्रबंध कोश' नामक ग्रथ स० १४०५ में बनाया। उनके रचित 'नेमिनाथ फागु', 'प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह' ग्रौर 'प्राचीन फागु संग्रह' मे छपे हैं। इसमे राजीमती के शृगार का वर्णन कवि ने काफी विस्तार से किया है। यहां उनमे से ३ पद्य दिए जा रहे हैं—

> मह मामल कोमल केशपास, किरि मोरकलाउ।
> मद्ध चद समु भालु मयणु, पोसइ भडवाउ।
> वंकुडियालीय मुहडियहं, भरि भुवणु भमाडइ।
> लाडी लोयण लहकुडलइ सुर समगह पाडइ॥ ८
> किरि मिमिविव कपोल, कन्नहि डोल फुरंता।
> नासा वंसा गरुडचचु, दाडिमफल दंता।
> ग्रहर पवाल तिरेह, कठु राजलसर रूडउ।
> जाणु वीणु रणरणइ, जाणु कोइल टहकडलउ॥ ९
> रणुझुणु ए रणुझुणु ए रणुझुणु ए, कडि घघरियाली।
> रिमिझिमि रिमिझिमि रिमिझिमि ए, पय नेउर जुयली।
> नहि मालत्तउ वन्नवलउ, से ग्रसुयविमिमि।
> मरगडियाली गयमए, प्रिउ जोग्रइ मनरगि॥ २१

स० १४०६ में मेवाड के ग्राघाट नगर के पार्श्व जिनालय में 'हलराज' कवि ने स्थूलिभद्र फाग की रचना की। उस समय तक स्त्रियां मिल कर फाग खेलती थी ग्रौर फागु काव्य गाये जाते थे, इसका कवि ने उल्लेख किया है—

वर तरुणी मिलि दियइ, राम एक फागु मेलावइ ।
तसु अंगणि नवनिधि रमइ, संपति घरि आवइ ॥

सं० १४१० मे पूर्णिमागच्छ के शालिभद्रसूरि ने नादउद्री में देवचंद्र के अनुरोध से 'पाच पांडव' रास बनाया जो बड़ौदा से प्रकाशित प्राचीन जैन रास सग्रह में प्रकाशित हो चुका है। सालिसूरि का 'विराट-पर्व' भी उसीमें प्रकाशित है। सं० १४१२ मे खरतरगच्छ के उपाध्याय विनयप्रभ ने कार्तिक सुदि १ के दिन खंभात में ४५ पद्यों का 'गौतम स्वामी' रास बनाया। इस रास ने बहुत अधिक प्रसिद्धि पाई। हजारों श्रावक इसका नित्य पाठ करते हैं और पच्चीसों पुस्तकों मे यह छप चुका है। इसकी बीकानेर के बड़े ज्ञान भडार में स० १४३० की लिखी हुई एक प्रति प्राप्त हुई और उसकी नकल मैंने 'साहित्य' नामक पत्र में प्रकाशित करदी है। नमूने के तौर पर कुछ पद्य नीचे दिए जा रहे हैं—

जिम सहकारिहिं कोयल टहुकइ,
जिम कुसुमह वनि परिमल बहकइ,
जिम चदनि सोगंध विधि ।
जिम गगाजलु लहरिहिं लहकइ,
जिम कणयाचलु ते जिहि झलकइ,
तिम गोयम सोभाग निधि ॥ ३८
जिम मानस सरि निवसइ हंसा,
जिम सुरवर सिरि कणय वतंसा,
जिम महुयर राजीव वनि ।
जिम रयणायरु रयणिहिं विलसइ,
जिम अंबरि तारागण विकसइ
तिम गोयम गुण केलि रुनि ॥ ३६
पुनिम दिसि जिम ससिहर सोहइ,
सुरतरु महिमा जिम जगु मोहइ
पूरव दिसि जिम सहस करो ।
पचाननु जिम गिरिवरि राजइ,
नरवर घरि जिम मयगलु गाजइ,
तिम जिन सासनि मुनि पवरो ॥ ४०

विनयप्रभ रचित 'तीर्थ माला' जैनमाला प्रकाश में हमने प्रकाशित की है—

जैन गुर्जर कवियो, भाग १ मे स० १४१५ में जिनोदयसूरि रचित त्रिविक्रम रास का उल्लेख है पर उसकी प्रति मेरे देखने में नही आई।

१४६२ लिखी गई प्रति प्राप्त है, इसलिए उससे पहले की रचना है। इसकी प्रतिलिपि भी हमारे संग्रह में है। इसी समय के लगभग जयशेखरसूरि अच्छे कवि हो गए है जो अचलगच्छ के थे। उनकी रचित 'त्रिभुवन दीपक-प्रबन्ध' नामक ४४८ पद्यों का रूपक काव्य बहुप्रशंसित है। उसके दो संस्करण निकल चुके हैं। इनके रचित 'नेमिनाथ फागु'[1] ५८ पद्यो का है। 'अर्बुदाचलवीनती'[2] *आदि फुटकर रचनाएँ भी मिलती हैं। समयप्रभगणि कृत 'जिनभद्रसूरि* पट्टाभिषेकरास' ४५ पद्यो का हमारे संग्रह में है, जो सं० १४७५ का है।

पीपलगच्छ के हीरानंदसूरि भी अच्छे कवि थे। उन्होने सं० १४८४ मे 'वस्तुपाल तेजपालरास' १४८५ मे 'विद्याविलास पवाडा १४८६ में 'कलिकाल-रास' १४९५ मे 'डावू स्वामि विवाहला' (साचोर मे) रचे। अत. ये राजस्थान के कवि थे। 'दशार्णभद्ररास', 'स्थूलिभद्र बारहमासा' आदि आपकी और भी रचनाएँ प्राप्त हैं।

इसी समय खरतरगच्छ के जयसागर उपाध्याय बड़े विद्वान् हुए हैं। इनके भ्राता मंडलिक ने आबू का चतुर्मुख जिनालय बनाया। सं० १४८१ में 'जिन-कुशलसूरि चतुष्पदिका सप्ततिका' की रचना मलिक वाहणपुर सिंध प्रान्त मे की। वह हमारे 'दादा जिनकुशलसूरि' पुस्तक में प्रकाशित हो चुकी है। इसका संक्षिप्त संस्करण बहुत ही प्रसिद्ध है और गुरु-भक्तों द्वारा उसका पाठ किया जाता है। हमारे संग्रह मे उनके रचित 'चैत्य परिपाटी' (सं० १४८७), 'वयर-*स्वामिरास' (गाथा ३६, सं० १४८९, जूनागढ), 'अष्टापदबावनी', 'नेमिनाथ-*विवाहला' 'गिरनार वीनती' आदि पच्चीसो रचनाएँ हैं। जयसागर उपाध्याय के संबंध मे मेरा एक लेख शोध पत्रिका में प्रकाशित हो चुका है। जिनकुशल-सूरि रचित 'पूर्व देश चैत्य परिपाटी' आदि अनेको रचनाएँ इस संग्रह में हैं।

मांडण नामक सेठ ने सं० १४९८ में 'सिद्धचक्र श्रीपालरास' २५८ पद्यों मे बनाया। चंप कवि रचित 'नल-दमयंतीरास' भी 'सिद्धचक्ररास' के साथ ही लिखा हुआ मिला है। सं० १४९९ मे मेहा कवि ने 'राणकपुरस्तवन' और 'तीर्थमालास्तवन' बनाया। देवरत्नसूरि के शिष्य ने सं० १४९९ मे 'देवरत्न-सूरि फागु' ६५ पद्यो मे बनाया जो जैन ऐतिहासिक गुर्जर काव्य-संचय में छप

[1] बड़ौदा से प्रकाशित प्राचीन जैन साहित्य संग्रह मे प्रकाशित।
[2] हिन्दी अनुशीलन मे मैंने प्रकाशन कर दिया है।

चुका है। गुणरत्नसूरि रचित 'ऋषभरास' एवं 'भरत बाहुबलि पवाड़ा' और सोमसुन्दरसूरि रचित 'नेमिनाथ नवरस फाग' 'स्थूलिभद्र कवित्त' (सं० १४८१) अज्ञात कवि रचित 'पृथ्वीचंद्र' 'गुणसागररास' रत्नमंडनगणि कृत 'नेमिनाथ नवरस फाग' और 'नारी निरास फाग' माणक्यसुन्दरसूरि कृत 'नेमीश्वर चरित फाग बंध' गाथा ६१, सर्वानन्दसूरि कृत 'मंगल-कलश चौपइ' मंडलिक रचित 'पेथड़रास' आदि रचनाएँ भी इसी शताब्दी की हैं। 'पेथड़रास' प्राचीन गुर्जर काव्य-सग्रह में प्रकाशित है।

उपसहार—११ वीं शताब्दी से १५ वीं शताब्दी तक के काल को मैं राजस्थानी साहित्य का आदिकाल मानता हूँ और इसी बीच की पद्यबद्ध रचनाओं का परिचय ऊपर दिया गया है। जैनेतर फुटकर राजस्थानी पद्य भी ११ वीं शताब्दी से ही मिलने लगते हैं। प्राचीन 'प्रबंध-सग्रह' ग्रंथों में उद्धृत ऐसे पद्यों के संबंध में मेरा एक स्वतंत्र लेख इसी अंक में प्रकाशित हो रहा है। जैनेतर स्वतंत्र रचनाएँ १५ वीं शताब्दी से ही मिलने लगती हैं। गुजरात के विद्वानों ने उनके संबंध में कुछ प्रकाश डाला है और 'हंसाउली', 'वसंत-विलास' आदि १५ वीं शताब्दी की कुछ रचनाओं को प्रकाशित भी किया है। भीम कवि रचित 'सदयवत्सप्रबंध' इसी शताब्दी का एक महत्वपूर्ण लोक-काव्य है, जिसे डॉ० मंजुलाल मजूमदार ने संपादित किया है और हमारे 'सादूल राजस्थानी रिसर्च इंस्टीट्यूट' से प्रकाशित हो रहा है। १६ वीं शताब्दी से राजस्थानी और गुजराती भाषा का अन्तर अधिक स्पष्ट होने लगता है, इसलिए वहाँ से मध्य काल का प्रारम्भ माना जा सकता है। स्वामी नरोत्तमदासजी ने अपनी 'किसन रुक्मणी री वेलि' की प्रस्तावना में राजस्थानी साहित्य का प्राचीन काल सं० ११५० से १५५० तक का माना है और डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' में आरंभ काल सं० १०४५ से १४६० तक माना है। डा० जगदीशप्रसाद ने अपने 'डिंगल-साहित्य' ग्रंथ में राजस्थानी का प्राचीन काल १३०० ई० से १६५० ई० तक माना है जो ठीक नहीं है। डॉ० हीरालाल माहेश्वरी ने राजस्थानी भाषा और साहित्य का प्राचीन काल सं० १५०० तक का मान कर १५०० से १६५० तक के साहित्य पर शोध-प्रबंध लिखा है।

गद्य—लय, छंद और स्मरण रखने की सुविधा—पद्य रचनाओं के अधिक रचे जाने के कारण हैं। पर साधारण व्यक्तियों के लिए पद्यों के भाव को समझना कठिन होता है इसलिए गद्य में टीकाएँ एवं स्वतंत्र रचनाएँ रची जाती

मुनि ज्ञानकलश रचित 'जिनोदयसूरि पट्टाभिषेक रास' ३७ पद्यो का हमारे 'ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह' मे छप चुका है। यह पद-महोत्सव सं० १४१५ में हुआ था अतः इस रास का रचनाकाल भी यही है। महोत्सव का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

इणि परि ए गुरु आएसि, सुहगुरु पाटिहि संठविउ।
तिहुयणि ए मगलचार, जय जयकार समुच्छलिउ॥
वाजए नदिय तूर, मागण जण कलियु करए।
सीकरि ए तणइ झमालि, नदि मंडपु जण मणुहर ए॥
नाचईए नयणि विसाल, चद वयणि मन रग भरे।
नव रगिए रासु रमति, खेला खेलिय सुपरि परे॥
घरि घरिए वन्दरवाल, गीतह मुणि रलियावणिय।
तहि पुरिए हुयउ जसवाउ, खरतर रीति सुहावणिय॥

जिनविजयसूरि के श्रावक 'विद्धणु' ने सं० १४२३ में 'ज्ञान पचमी चौपई' ५४८ पद्यो मे बनाई। इस समय तक की प्राप्त राजस्थानी-जैन-रचनाओ मे यह सब से बडी है। सघ भंडार पाटण मे इसकी प्रति होने का जैन ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है। भाषा के उदाहरण के रूप में प्रारम्भ और अन्त का एक-एक पद यहाँ दिया जा रहा है—

आदि—जिणवर सासणि आछइ साइ, जसु न लाभइ अंत अपाइ।
पढहु गुणहु पूजहु निसुनेहु, सियपचमि फलु कहियउ एहु॥ १

अन्त —इह सियपचमी तेमि, विरुणदो संसार महिं।
ते नर सिवपुर जाहि, पढहि गुणहि जे संभरहि॥ ५४८

सं० १४३२ मे जिनोदयसूरि का स्वर्गवास हुआ। उनके सम्बन्ध मे मेरुनदनगणि ने ४४ पद्यो का 'श्रीजिनोदयसूरि गच्छनायक विवाहलउ' की रचना की, जो हमारे 'ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह' में छप चुका है। यह छोटासा काव्य होने पर भी बहुत सुन्दर है। दीक्षा-कुमारी के साथ जिनोदयसूरि के विवाह के रूपक का वर्णन तो बहुत ही सुन्दर है। इसीलिए इसका नाम 'विवाहलउ' रखा गया है। भाषा का प्रवाह भी उल्लेखनीय है। प्रारम्भ के ३ पद्य उदाहरणस्वरूप दिए जा रहे हैं—

सयल मण वछियं, काम कुम्भोवमं,
पास पय-कमलु पणमेवि भत्ति।
सुगुरु 'जिणउदयसूरि' करिसु वीवाहलउ, सहिय ऊमाहलउ मुज्झ चित्ति॥ १
इवकु जगि जुगपवरु प्रवरु नियदिक्खगुरु,

थुणिसुं हउ तेण निय मद वलेण ।
सुरभि किरि कचण दुद्ध सक्कर घण,
मधु किरि भगीउ गंग अलेण ।। २
अत्थि 'गूजरधरा' सुदरी सुररे,
उअरे रयण हागेवमाण ।
लच्छि केलिहरं नयर 'पल्हणपुर'
सुरपुरं जेम सिद्धाभिहाण ।। ३

इसी कवि के रचित 'जीरावल्ला पार्श्वनाथ फागु' सं० १४३२ मे रचित (३० पद्यों का) है जो प० लालचंद भगवानदास गाधी के जीरावल्ला पार्श्वनाथ सम्बन्धी पुस्तक में प्रकाशित हो चुका है। उपाध्याय मेरुनदन के और भी बहुत से संस्कृत स्तोत्र आदि मिले हैं। इस सम्बन्ध मे मेरा एक लेख 'वल्लभ विद्या-विहार' पत्रिका में प्रकाशित हो चुका है। 'ज्ञान छप्पय', 'स्थूलिभद्र मुनि छदासि', 'जिणोदयसूरि छदासि', 'गौतम छदासि' आदि राजस्थानी भाषा की सुन्दर रचनाएँ हैं। स० १४२७ में उदयकरण रचित 'कयलवाड़ पार्श्वस्तोत्र' और 'जीरावला फलवर्द्धि पार्श्व-स्तोत्र' प्राप्त हुए हैं। उदयकरणजी की और भी अनेकों फुटकर रचनाएँ मिली हैं।

देवप्रभगणि रचित 'कुमारपाल रास' ४३ पद्यो का है और 'भारतीय विद्या' मे प्रकाशित हो चुका है।

स० १४४५ मे चाँप कवि ने भट्टारक देवसुन्दरसूरि रास' बनाया। इसमें उक्त सूरिजी का चरित्र सक्षेप मे ५५ पद्यो में दिया गया है। यह अभी अप्रकाशित है। इसकी प्रतिलिपि हमारे सग्रह में है।

स० १४६७ मे लिखी हुई एक सग्रह पुस्तिका हमारे ग्रथालय में है जिसमें 'भरतेश्वर चक्रवर्ती फाग' 'पुरुषोत्तम पच पडव फाग'[1] आदि अनेक फुटकर रचनाएँ हैं। इस शताब्दी के कई फागु काव्य 'प्राचीन फागु सग्रह' में प्रकाशित हो चुके हैं। स० १४५० के लगभग देवसुन्दरसूरि के शिष्य प० रत्नाकर ने 'काकबधि चौपई' (धम्मक्तक) की रचना की, जो हमारे संग्रह मे है। स० १४५५ में साधुहस ने 'शालिभद्र रास' २२२ पद्यों में बनाया। उनकी रचित 'गौतम पृच्छा चौपई' ६४ पद्यो की है। वस्तिग या वस्तो कवि रचित 'चिहुगति चौपई' सं०

---

[1] ये दोनों फाग 'प्राचीन फागु-संग्रह' मे प्रकाशित कर दिये गये हैं।

रही हैं। पद्य-रचना मौखिक रूप से भी लम्बे समय तक स्मरण रखी जा सकती है अतएव गद्य की अपेक्षा अधिक सुरक्षित रहती है और इसीलिए प्राचीन पद्यबद्ध रचनाएँ जितनी मिलती हैं उतनी प्राचीन और अधिक परिमाण मे गद्य रचनाएँ नही मिलती। राजस्थानी भाषा में वैसे तो स० १३३० का लिखा हुआ गद्य भी मिलता है और उसके बाद की भी छोटी-छोटी रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। 'प्राचीन गुर्जर काव्य-सग्रह' और 'प्राचीन गुजराती गद्य संदर्भ' मे सं० १३३० की लिखी हुई 'आराधना' १३३६ का 'बाल-शिक्षा ग्रंथ' १३५८ का 'नवकार व्याख्यान', १३५६ का 'सर्वतीर्थ नमस्कार स्तवन' १३४० और १३६६ का लिखा हुआ 'अतिचार' छप चुका है। इनके अतिरिक्त 'तत्त्व विचार प्रकरण' और 'धनपाल कथा' नामक गद्य रचना हमें प्राप्त हुई थी जिसे हमने राजस्थान भारती में प्रकाशित कर दिया था। गुर्जरी, मालवी, पूर्विणी और मराठी इन चार नायिकाओ के मुख से कहलाया हुआ गद्य हमे एक प्राचीन प्रति में प्राप्त हुआ था, जिसे राजस्थानी, भाग ३, अक ३, मे प्रकाशित किया जा चुका है। पाटण के जैन-भडारो में कुछ महत्वपूर्ण अप्रकाशित गद्य रचनाएँ भी हे जिनमे से आहार-विशुद्धि सस्कृत एवं लोक भाषा की उल्लेखनीय है। 'उक्ति-व्यक्ति-विवृत्ति' का उद्धरण पाटण भडार सूची के पृष्ठ १२८-१५४ से यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। 'उक्ति-व्यक्ति-विवृत्ति' में 'अपभ्रंश भाषा में लोग इस प्रकार कहते हैं' लिखा है—

'अपभ्रंश (श) भाषया लोको वदति यथा ।। धम्मु आथि। धम्मु कीज (३)। दुह गावि, दुधु गुआल। यजमान कापड़िआ। गंगाए धम्मु हो, पापु जा। पृथ्वी वरति। मेहु वरिस। आंखि देख नेहात। आंखि देखत आछ। जीभे चाख। काने सुण। बोल-बोल। वाचा-वदति।

प० दामोदर रचित 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' सिंघवी जैन ग्रथमाला से प्रकाशित हो चुका है।

इसे काफी प्राचीन और कौशली बोली का बतलाया गया है। इसमें दिए हुए बहुत से शब्द रूप राजस्थानी मे भी उद्धृत होते हैं। इसका एक रूप देखें— उमी वा हेठइ दोरउ बाधिवउ। हिट्ठिलउ दोरउ ऊपलउ वेड हाथि धरेवा। जउ पाणिउ प्रत्यासनु खरउ खरउ सीक गियउ होइ तउ हेट्ठिलउ दोरउ ताणेवउ। जिम्व पाणिउ पाणिय मिम्व्इ किम्वइ तहि ठावि घातण न लाभइ त क्षीर वृक्ष हेठइ नेउ पानु मेल्हइ अथवा पानु दुर्लभु त गापरउ नवउ पाणीइं अचेतनि भींज-

विउ जिव सचित्तु पाणिउ तहिं आवट्टइ नहिं इं ति नवबटवृक्षादिक हेठइ तहिं घाति उपरि ठवइ। अथवा जइ खापरउ न संपजइ त चीखल माझि खावउ खणिउ वटादिपत्र नालु करि उपरि ठवइ ऊपरि पत्रादि छाया करइ पापती म्लाखरेवा विकरइ।

अम्हि जाणउ वदइ तउ पइलउ वइद पासि पूछइ अथवा भणइ अम्ह अमुकइ औषधि एउ रोगु उपसातउ।

वनियउ विहरेवा गियउ भणइ जइ हुउ तउं देखउ तउ मुज्झ आपणी माता आपणउ पिता भाइउ वेटउ वहिन वेटी साभलइ इत्यादि। पश्चात् सवधे सस्तवो यथा–जउ हुउ तुम्हि देखं तउ मुझ आपणा सासू सुसरादिक सांभलइ। माय पीय पुव्व सथव सासू सुसराइयाण पच्छाउ।

यह रचना कब की है और उसकी प्रति कब की लिखी हुई है इसके सवध में पाटण सूची-पत्र मे कुछ उल्लेख नही है पर ताउपत्रीय प्रति होने से १४ वी शताब्दी का होना सभव है।

प्राचीन राजस्थानी गद्य की रचना, टीका और मौलिक दोनों प्रकार की मिलती हैं। इनमे सबसे अधिक उल्लेखनीय भाषा-टीका तरुणप्रभसूरि का 'षडावश्यक वालाववोध' है जो स० १४११ में लिखा गया है। इस वालाववोध मे यथाप्रसग वहुत सी कथाएँ आती हैं। यद्यपि वे वहुत सक्षिप्त हैं, फिर भी उससे तत्कालीन वोलचाल की भाषा का भली भाति परिचय मिल जाता है। इसकी कुछ कथाएँ 'प्राचीन गुजराती गद्य-सदर्भ' मे प्रकाशित की गई हैं और तरुणप्रभसूरि सवंधी मेरा लेख शोध पत्रिका एव यू पी. हिस्टोरीकल जनरल में छपा है। उसमे अप्रकाशित एक कथा भी दी गई है।

वालाववोध नामक भाषा टीकाएँ इसके बाद अनेकों रची गई हैं और सोमसुन्दरसूरि कृत 'उपदेशमाला वालाववोध एव योगशास्त्र वालाववोध' की कुछ कथाएँ 'प्राचीन गुजराती गद्य सदर्भ' में छपी हैं। एक अन्य विद्वान रचित 'उपदेशमाला वालाववोध' लदन से भी प्रकाशित हुआ है। उल्लेखनीय मौलिक गद्य रचनाओ में स० १४७८ का 'पृथ्वीचद चरित्र' है जो माणिक्यसुन्दरसूरि ने स० १४७८ मे ५ उल्लासो मे 'वाग्विलास' के नाम से रचा है। इसमे तुकात गद्य-वर्णन बहुत ही सुन्दर है। ऐसी 'वाग्विलास' रचनाओं की परम्परा १८ वी शताब्दी तक चलती रही। सयाजीराव विश्वविद्यालय, बडौदा से 'वर्णक समुच्चय' नामक ग्रंथ प्रकाशित हुआ है और मेरे सम्पादित 'सभा शृंगार' आदि वर्णन-सग्रह नागरी प्रचारिणी सभा से शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है।

'कालिकाचार्य कथा' की सं० १४८५ की लिखी हुई प्रति हमारे संग्रह में है। 'गणितसार बालावबोध' आदि कुछ गद्य रचनाएँ १५ वी शताब्दी की प्रकाशित भी हुई है।

इस प्रकार आदिकालीन जैन राजस्थानी साहित्य का यथा-ज्ञात संक्षिप्त परिचय देने का यहाँ प्रयत्न किया गया है। वास्तव में ऐसे निबंध को तैयार करने के लिए काफी समय की आवश्यकता है। मैं इधर अन्य कामों में बहुत व्यस्त रहा और परम्परा के सम्पादक श्री नारायणसिंह भाटी का बराबर तकाजा होता रहा। इसलिए मैं जिस रूप में इसे लिखना चाहता था नहीं लिख सका; फिर भी इस समय की रचनाओं की जानकारी बहुत ही कम प्रकाश में आई है, इसलिए कुछ तो इससे लाभ होगा ही, समझ कर इसे प्रकाशित किया जा रहा है। वैसे डा० हरिशंकर 'हरीश' ने मेरे यहाँ कई महिने रह कर मेरी समस्त सामग्री का उपयोग करते हुए 'आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य' नामक शोध-प्रबंध लिखा है। उसके प्रकाशित होने पर जिज्ञासुओं को, आशा है, पूरा सन्तोष होगा।

परम्परा ने इस विशेषांक के द्वारा महत्वपूर्ण सामग्री उपस्थित की है। राजस्थानी साहित्य के इतिहास-निर्माण में यह बहुत सहायक होगा।

# प्राचीन राजस्थानी के कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ

श्री सीताराम लाळस

खुम्माण रासो

राजस्थानी साहित्य में प्रारम्भ से ही प्रथम काव्य ग्रंथ के रूप में 'खुमाण-रासो' का उल्लेख किया जाता रहा है।[1] आज इसकी प्राप्त प्रतियों के आधार पर इसके रचना-काल के सम्बन्ध मे अनेक विद्वानों को पूर्ण सन्देह है। इस काव्य-ग्रन्थ मे चित्तौड़ के महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन दिया गया है। इससे यह प्रकट होता है कि यह ग्रंथ समय-समय पर सामग्री प्राप्त करने के कारण अपने वास्तविक रूप से सर्वथा भिन्न तरह का हो गया है। एक स्थान पर इसके रचयिता का नाम दलपतविजय लिखा गया है। कुछ लोगों के मतानुसार ये जैन साधु थे।[2] कर्नल टॉड ने अपने इतिहास में चित्तौड़ के रावळ खुम्माण का उल्लेख किया है। उन्होंने अपने इतिहास मे लिखा है कि काल भोज (बप्पा) के पश्चात् खुम्माण गद्दी पर बैठा। इतिहास मे इस खुम्माण का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इसके शासन-

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, सातवां संस्करण, सवत् २००८, पृष्ठ ३३।

[2] "ये (दलपत) तपागच्छीय जैन साधु शान्तिविजयजी के शिष्य थे। इनका असली नाम दलपत था किन्तु दीक्षा के बाद बदल कर दौलत-विजय रख लिया गया था। विद्वानों ने इनका मेवाड के रावल खुम्माण द्वितीय (संवत् ८७०) का समकालीन होना अनुमानित किया है जो गलत है। वास्तव में इनका रचनाकाल संवत् १७३० और स० १७६० के मध्य मे है। राजस्थानी भाषा और साहित्य—मोतीलाल मेनारिया, पृष्ठ ८२।

रचनाकाल मानने वाले इसकी रचना ढोले के तीन सौ वर्ष बाद हुई मानते हैं। सिद्ध हेमचद्र ने अपनी अपभ्रंश व्याकरण में दो तीन बार 'ढोल्ला' शब्द का प्रयोग किया है।[1] वहां यह तीनो बार नायक के अर्थ में आया है। हेमचंद्र का जन्म सवत् ११४५ और मृत्यु संवत् १२२६ में मानी गई है।[2] श्री मोहनलाल दलीचंद देसाई ने भी इसका समर्थन किया है।[3] इससे यह तो स्पष्ट है कि उस समय ढोला के सम्बन्ध में जनसाधारण में काफी जानकारी प्रचलित होगी। जिस प्रकार राधा और कृष्ण ऐतिहासिक व्यक्ति होते हुए भी कालांतर मे काव्य में नायक नायिका के रूप मे रूढ हो गए, ठीक उसी प्रकार ढोले का नाम भी तत्कालीन कविताओ मे नायक के रूप में प्रयुक्त किया जाने लगा हो। आधुनिक राजस्थानी लोक गीतों में ढोले का प्रयोग नायक, पति, वीर आदि के लिए प्रचुरता के साथ पाया जाता है।[4] इससे यह सहज ही में अनु-

---

[1]ढोल्ला सामला धण चम्प'-वण्णी।
एाइ सुवण्णरेह क स-वट्टइ दिण्णी ॥८।४।३३०।१
ढोल्ला मइ तुहुँ वारिया मा कुरु दीहा माणु।
निद्दए गमिही रत्तडी दडवड होइ विहाणु ॥८।४।३३०।२
ढोल्ला एँह परिहासडी अइ भण भण कवणहि देसि।
हउं झिज्जउ तउ केहिं पिअ तुहुँ पुणु अन्नहि रेसि ॥८।४।४२५।१
अपभ्रंश व्याकरण—आचार्य हेमचन्द्र।

[2]कुमारपाल चरितः—Introduction Page XXIII XXV (१६३६)

[3]जैन गुर्जन कविओ, प्रथम भाग, 'जूनी गुजराती भाषा नो सक्षिप्त इतिहास' श्री मोहनलाल दलीचद देसाई, पृष्ठ ११३।

[4](i) गोरी छाई छूँ जी रूप, ढोला धीरा धीरा आव।
(ii) सावण खेती, भवरजी, थे करीजी, हाजी ढोला भादूड़े करचौ थो निनाण। सीट्टा री रुत छाया, भवरजी, परदेस में जी, ओजी म्हारा धण कमाऊ उमराव, थारी प्यारी नै पलक न आवड़ै जी।
(iii) गोरी तो भीजैं, ढोला गोखडै, आलीजो भीजैं जी फौजा माय। अब घर आयजा आसा थारी लग रही हो जी।
(iv) दूधा नै सीचावो ढोलाजी रौ नीबूडो ओ राज।
ढोला मारू रा दूहा—स० रामसिंह तथा नरोत्तमदास, पृष्ठ स० ३६८

मान किया जा सकता है कि हेमचंद्र के समय तक ढोले के सम्बन्ध में दोहे जन-साधारण मे इतने प्रचलित हो गये होगे कि उस समय के कवियों ने इसके नाम का नायक के रूप में कविता मे प्रयोग करना आरम्भ कर दिया हो। जन-साधारण में दोहों के ऐसे प्रचलन के लिए सौ डेढ़ सौ वर्ष का समय कुछ अधिक नही। अगर हेमचंद्र का समय संवत् ११४५ से १२२६ माना गया है तो ढोला-मारू के दोहों का निर्माणकाल १००० सहज ही माना जा सकता है। इस प्रकार के उदाहरणों मे भाषा-विज्ञान के अनुसार अर्थ-विस्तार प्रायः हो जाया करता है। राजस्थानी भाषा की विवेचना करते समय ऐसे उदाहरण हम प्रस्तुत कर चुके हैं।[1]

भाषा की दृष्टि से वर्तमान समय में प्रचलित ढोला मारू के दोहे इतने प्राचीन नही मालूम होते। वस्तुतः लोक-काव्य और अन्य साहित्यिक रचनाओं में काफी अन्तर होता है। किसी साहित्यिक ग्रंथ के निर्माण में कुछ न कुछ साहित्यिक कला का होना अत्यन्त आवश्यक समझा जाता है। लोक-गीतो की रचना-व्यवस्था इसके ठीक विपरीत होती है। लोक-गीतो का निर्माता यदि कोई हो सकता है तो देश विशेष की प्राचीनकालीन परिस्थिति और साधारण जनता की सामूहिक रागात्मक अभिरुचि हो हो सकती है। गेय गीतो को मौखिक रूप मे आने वाली पीढियो में हस्तान्तरित करने की परम्परा बहुत ही प्राचीन समय से प्रचलित रही है। अत वह तत्कालीन जनता की साधारण अभिरुचि से प्रेरणा पाती रहती है। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित ढोला मारू की भूमिका में इस सबध मे एक स्थान पर लिखा है,[2] 'यह काव्य मौखिक परम्परा के प्राचीन काव्य-युग की एक विशेष कृति है' और सम्भव है कि तत्कालीन जनता की साधारण अभिरुचि को ध्यान में रख कर उससे प्रेरित होकर किसी प्रतिभा-सम्पन्न कवि ने जनता के प्रीत्यर्थ उसी के मनोभावों को वर्तमान काव्य-रूप मे बद्ध कर उसके समक्ष उपस्थित कर दिया हो और जनता ने बडी प्रसन्नता से इसे अपनी ही सामूहिक कृति मान कर कंठस्थ किया हो। ऐसी दशा में व्यक्ति विशेष कवि होने पर भी उसके व्यक्तित्व का सामूहिक अभिरुचि के प्रबल प्रवाह में लुप्तप्राय. हो जाना सम्भव है। अतएव हमारा

---

[1] देखो—'राजस्थानी सबद कोस' की प्रस्तावना मे राजस्थानी भाषा का विवेचन, पृ० १७।

[2] ढोला मारू रा दोहा, भूमिका, पृष्ठ ३६।

अनुमान है कि व्यक्ति विशेष का इसके बनाने में कुशल हाथ स्पष्टतः दृष्टि-गोचर होते हुए भी सामूहिक मनोभावों की एकता और सहानुभूति एकत्रित होने के कारण कवि का व्यक्तित्व समूह में लुप्त हो गया है और अत में मौखिक परम्परा से चला आता हुआ यह काव्य हमको किसी व्यक्ति विशेष कवि की कृति के रूपों मे नही मिला बल्कि जनता के काव्य के रूप में उपलब्ध हुआ है।

कुछ विद्वानो ने 'कल्लोल' नामक एक कवि को ही इसका रचयिता माना है।[1] जोधपुर के सिवाना नामक ग्राम मे एक जैन यति के पास से प्राप्त प्रति मे इसके रचयिता का नाम लूणकरण खिडिया लिखा है। खेद की बात है कि सवत् १५०० के पहले की लिखी कोई प्रति अभी तक उपलब्ध नही हुई है। वैसे तो 'ढोला मारू रा दूहा' की बहुत-सी हस्तलिखित प्रतियां राजस्थान के पुस्तक-भडारो मे मिलती हैं किन्तु वे अधिक पुरानी नही हैं। असली काव्य तो सम्भवतया सब का सब दोहो मे ही लिखा गया होगा परन्तु कालान्तर मे दोहो की यह शृखला छिन्न-भिन्न हो गई। संवत् १६१८ के लगभग जैसलमेर के एक जैन यति कुशललाभ ने तत्कालीन महारावल के आदेशानुसार ढोला मारू के विभिन्न बिखरे दोहो को इकट्ठा किया और इस छिन्न-भिन्न कथा सूत्र को मिलाने के लिए कुछ चौपाइया बनाई। इन चौपाइयो को दोहो के बीच मे रख कर कुशललाभ ने पूरे कथा-सूत्र को ठीक कर दिया। अभी तक उपलब्ध प्रतियो मे यही प्रति सबसे पुरानी मानी गई है। श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने इन दोहो का निर्माणकाल सवत् १५०० वि० के लगभग माना है।[2]

**जेठवैरा सोरठा—**

राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा के परिशिष्ठ में श्री मेनारिया ने 'जेठवैरा सोरठा' का निर्माणकाल स० ११०० के लगभग दिया है।[3] इनके साहि-

---

[1] (क) राजस्थानी भाषा और साहित्य—डा. हीरालाल माहेश्वरी, पृ. २०१।
(ख) राजस्थानी भाषा और साहित्य—श्री मोतीलाल मेनारिया, पृ. १०१।
(ग) हिन्दी काव्य-धारा मे प्रेम-प्रवाह—श्री परशुराम चतुर्वेदी, पृ. २६।
(घ) प्राचीन राजस्थानी साहित्य, भाग ६, स. गोवर्द्धन शर्मा, पृ. ८३-८५।

[2] ढोला मारू रा दूहा—प्र० नागरी प्रचारिणी सभा काशी, डॉ० ओझा द्वारा लिखित प्रवचन, पृष्ठ ५।

[3] राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा—डॉ० मोतीलाल मेनारिया, पृष्ठ २१६।

त्यिक महत्व को छोड़ कर पहले इन पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार कर लेना आवश्यक है । श्री मेनारियाजी के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति ने इन दोहों की रचना इतनी प्राचीन नहीं मानी है । प्रायः प्रत्येक सोरठे के अन्त मे जेठवा या मेहउत शब्द आया है । स्वर्गीय श्री झवेरचंद मेघाणी ने जेठवे के गुजराती सोरठो का सकलन किया था । इसी प्रसग में एक स्थान पर उन्होंने लिखा है, "यह कथा श्री जगजीवन पाठक ने सन् १६१५ में 'गुजराती' के दीपावली अक में लिखी थी तथा 'मकरध्वजवशी महीपमाला' पुस्तक मे भी लिखी है । इसमें सम्पादक तलाजा के एलभवाला' का प्रसग (मात हुकाली, मन्त्रेम-हरण आदि : देखो रसधार : १ पृष्ठ १८८) मेहजी के साथ जोडते हैं । इसके पश्चात् यह प्रसग बरडा पर्वत पर नही परन्तु दूर ठागा पर्वत पर घटित मानते हैं । मेहजी को श्री पाठक १४४वी पीढ़ी में रखते हैं परन्तु उनका वर्ष व सवत् नही बताते । उनके द्वारा बाद में १४७ वे राजा को १२ वी शताब्दी मे रखने से अदाज से मेहजी का समय दूसरी या तीसरी शताब्दी के भीतर किया जा सकता है, परन्तु वे स्वय दूसरे एक मेहजी को (१५२) सवत् १२३५ के अतर्गत लेते हैं । ऊजली वाले मेहजी यह तो नही हो सकते । कथा के दोहे १०००–१५०० वर्ष प्राचीन तो प्रतीत नही होते । घटना होने के पश्चात् १००-२०० वर्षो में इसका काव्य साहित्य रचा गया होगा । यदि इस प्रकार गणना करें तो मेह-ऊजली के दोहे संवत् १४००–१५०० तक प्राचीन होने की कल्पना अनुकूल प्रतीत होती है । तो फिर इस कथा के नायक का १५२ वा मेहजी होने की संभावना अधिक स्वीकार करने योग्य प्रतीत होती है ।" इसके अतिरिक्त इन सोरठो की भाषा भी नवीन है । कालान्तर में जेठवे के नाम पर विभिन्न कवियो द्वारा रचे गए सोरठे भी इसमें सम्मिलित होते गए । उदाहरण के लिए निम्नलिखित दो सोरठे मथानियानिवासी श्री जेतदानजी बारहठ द्वारा सवत् १६७४–७५ मे लिखे गए थे किन्तु वे बाद में जेठवे के सोरठे के नाम से प्रसिद्ध हो गए ।

> डहरयो डंफर देस, वादळ थोयो नीर विन ,
> आई हाथ न एक, जळ री बूद न जेठवा ।
> दरसण हुआ न देव, भेव विहूणा भटकिया ,
> सूना मिंदर सेव, जनम गमायो जेठवा ।

उपरोक्त दोहे जेठवे के नाम से 'परम्परा' के 'जेठवे रा सोरठा' नामक ग्रंथ म प्रकाशित हो चुके हैं । अत इन दोहों का ठीक रचनाकाल निश्चित करना

अत्यंत कठिन है। जो सोरठे पुराने कहे जाते हैं वे भी साहित्यिक दृष्टि से पंद्रहवी, सोलहवी शताब्दी के प्रतीत होते हैं, चाहे इनका ऐतिहासिक आधार कितना ही पुराना क्यों न हो।

'ढोला मारू रा दूहा' तथा 'जेठवे रा सोरठा' इन दोनों लौकिक प्रेम-काव्यो में ऐतिहासिक तथ्य गौण ही हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है[1] कि "वस्तुतः इस देश में इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ में कभी नही लिया गया। बराबर ही ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथा-नायक बनाने की प्रवृत्ति रही है।......कर्मफल की अनिवार्यता मे, दुर्भाग्य और सौभाग्य की अद्भुत शक्ति में और मनुष्य के अपूर्व शक्तिभडार मे दृढ विश्वास ने इस देश के ऐतिहासिक तथ्यो को सदा काल्पनिक रग म रगा है। यही कारण है कि जब ऐतिहासिक व्यक्तियो का भी चरित्र लिखा जाने लगा तब भी इतिहास का कार्य नही हुआ। अंत तक ये रचनाएँ काव्य ही बन सकी, इतिहास नही।"

**बीसलदेव रासो[2] —**

प्राचीनता की दृष्टि से 'बीसलदेव रासो' का अत्यधिक महत्व है। साहित्यिक दृष्टि से इसका मूल्य कितना ही नगण्य क्यो न हो किंतु प्राचीनता उसकी एक ऐसी विशेषता है जिसके कारण इसके अध्ययन-अध्यापन की ओर कई विद्वानो का ध्यान गया है। अगर देखा जाय तो यही ग्रथ राजस्थानी का प्राचीनतम प्रामाणिक ग्रथ है। किसी भी प्राचीन ग्रथ का अपने शुद्ध रूप मे मिलना सम्भव नही है और फिर एक ऐसे ग्रथ का जो सैकडो वर्षो तक गाया जाता रहा हो, शुद्ध प्राचीन रूप मे मिलना सर्वथा असम्भव है। अत. इसी को आधार मान कर कुछ विद्वानो ने समस्त प्राचीन ग्रथो को आधुनिक सिद्ध करने मे ही अपनी अधिकाश शक्ति खर्च करदी है। बीसलदेव रासो के बारे मे डॉ० उदयनारायण तिवारी लिखते हैं[3]—"वास्तव मे नरपति न तो इतिहासज्ञ था और न कोई बड़ा कवि ही, किसी सुने-सुनाये आख्यान के आधार पर

[1]हिन्दी साहित्य का आदि काल—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ७१।

[2]इसका विशुद्ध राजस्थानी रूप 'बीसलदे रासो' है।

[3]वीर-काव्य—डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृष्ठ २०८।

लोगों को प्रसन्न करने के लिए उसने कुछ बेतुकी तुकबंदी करके काव्य का एक ढाचा येन-केन-प्रकारेण खड़ा कर दिया जिस पर इसके पश्चात् के कवियों ने भी नमक-मिर्च लगाया। इस प्रकार एक साधारण कवि के मिथ्या-बहुल काव्य को लेकर जिसका असली रूप भी इस समय सुरक्षित नहीं, इतनी ऐतिहासिक ऊहापोह करनी ही व्यर्थ है।" श्री मेनारिया ने इस समय एक नई कल्पना की है। उन्होंने नरपति नाल्ह का सबध नरपति नामक एक गुजराती कवि से जोड दिया है।[1] इन दोनों को वे एक ही कवि मानते हैं एवम् इनका रचनाकाल सवत् १५४५-१५६० के आसपास माना है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी श्री मेनारिया के मत का समर्थन किया है।[2]

'वीसलदेव रासो' को प्राचीनतम मानने के लिए इसके निर्माणकाल की विवेचना अत्यन्त आवश्यक है। नरपति नाल्ह ने अपनी पुस्तक की रचना-तिथि निम्नलिखित प्रकार से दी है।

> बारह सै बहोत्तरां हा मंझारि।
> जेठ वदी नवमी बुधवारि॥
> 'नाल्ह' रसायण आरभई।
> सारदा तूठि ब्रह्म कुमारी॥[3]

इसी के आधार 'वीसलदेव रासो' की रचना-तिथि मिश्रबंधुओं ने[4] सवत् १३५४, लाला सीताराम ने १२७२ तथा सत्यजीवन वर्मा ने[5] १२१२ माना है। श्री रामचन्द्र शुक्ल ने भी वर्माजी के मत का अनुमोदन किया है।[6] मिश्रबन्धुओं ने अपनी विनोद मे लिखा है—'चन्द और जल्हण के पीछे सवत १३५४ मे नरपति नाल्ह कवि ने 'वीसलदेव रासो' नामक ग्रन्थ बनाया। इसमे चार खण्ड हैं और उनमे वीसलदेव का वर्णन है। नरपति नाल्ह ने इसका समय

---

[1]राजस्थानी भाषा और साहित्य—डॉ. मोतीलाल मेनारिया, पृष्ठ ८८-८९।
[2]हिन्दी साहित्य—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ५२।
[3]मिश्रबंधु-विनोद।
[4]वीसलदेव रासो—सं० सत्यजीवन वर्मा—काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, प्रथम सर्ग।
[5]नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित 'वीसलदेव रासो' की भूमिका, पृष्ठ ५।
[6]हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल (सातवा सस्करण), पृ २४।

१२२० लिखा है। परन्तु जो तिथि उन्होंने बुधवार को ग्रन्थ-निर्माण की लिखी है वह १२२० संवत् में बुधवार को नहीं पडती, परन्तु १२२० शाके बुधवार को पडती है। इससे सिद्ध होता है कि यह रासो १२२० शाके में बना।" विक्रम संवत् और शक संवत् में लगभग १३४ वर्ष का अन्तर है, अतः उन्होंने ग्रंथ का रचनाकाल संवत १३५४ मान लिया। मिश्रबंधुओं की इस विवेचना का आधार बाबू श्यामसुन्दरदास की एक रिपोर्ट है[1] जिसमें उन्होंने लिखा था "The author of this Chronicle is Narpati Nalha and he gives the date of the composition of the book as Sammawat 1220. This is not Vikram Sammat." किन्तु गौरीशंकर हीराचंद ओझा की मान्यता के अनुसार राजपूताने में पहले शक संवत् प्रचलित नहीं था।[2] यहा के लोग विक्रम संवत् का ही प्रयोग करते थे। अतः शक संवत् की कल्पना उचित प्रतीत नहीं होती। इसके अतिरिक्त वहोतरा का अर्थ बीस मान कर इसका रचनाकाल १२२० मानना भी ठीक नहीं है। मिश्रबंधु विनोद में एक दामों नामक कवि का विवरण आता है। उसने 'लक्ष्मणसेन', 'पद्मावती' की कहानी लिखी थी। उसने अपने ग्रंथ में कहानी का रचनाकाल इस प्रकार दिया है—

> संवत् पंदरइ सोलोत्तरा मझार, ज्येष्ठ वदी नौमी बुधवार।
> सप्त तारिका नक्षत्र दृढ जान, वीर कथा रस करू वखान॥

मिश्रबंधुओं ने इस 'सोलोत्तरा' का अर्थ संवत् १५१६ लिखा है। तत्पश्चात् एक हरराज नामक अन्य कवि का वर्णन, जिसने राजस्थानी में 'ढोला मारू वार्ता' चौपाइयों में लिखी थी। उसमें भी कहानी का रचनाकाल 'संवत् सोलह सै सत्तोतरइ' दिया है। मिश्रबन्धुओं ने यहां भी इसका अर्थ १६०७ किया है, १६७७ नहीं। आश्चर्य तो यह है कि वे 'पंदरइ सौ सोलोत्तरा' को तो १५१६ और 'सोलह सौ सत्तोतरइ' को १६०७ मान लेते हैं, किन्तु 'बारह सै बहोतरा' को १२१२ न मान कर १२२० मानते है। वस्तुतः 'वहोत्तर' द्वादशोत्तर का रूपान्तर मात्र है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त 'बीसलदेव रासो' को संवत् १४०० में रचा हुआ मानते हैं।[3] इस संबंध में उनका तर्क यह है कि 'जिन स्थानों के

---

[1] हिन्दी हस्तलिखित पुस्तकों की रिपोर्ट, सन् १९०० ।
[2] काशी नागरी प्रचारिणी द्वारा प्रकाशित 'बीसलदेव रासो' की भूमिका, पृष्ठ ६ में दिए गए डॉ० ओझा के पत्र का उल्लेख।
[3] 'बीसलदेव रास'—स० डॉ० माताप्रसाद गुप्त एवम् श्री अगरचंद नाहटा, हिन्दी परिषद् विश्वविद्यालय प्रयाग द्वारा प्रकाशित, भूमिका पृष्ठ ५८।

नाम 'वीसलदेव रासो' में आते हैं, उनमें से कोई भी सं० १४०० के बाद का नहीं प्रमाणित हुआ है।"

श्री सत्यजीवन वर्मा एवम् श्री रामचन्द्र शुक्ल ने 'वीसलदेव रासो' का रचनाकाल संवत् १२१२ माना है।[1] इसका कुछ ऐतिहासिक आधार भी है। 'वीसलदेव रासो' में सर्वत्र क्रिया का प्रयोग वर्तमान काल में किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि कवि वीसलदेव का समकालीन था। दिल्ली की प्रसिद्ध फिरोजशाह की लाट पर सवत् १२२० (विक्रमी) वैशाख शुक्ला १५ का खुदा हुआ एक लेख मिलता है।[2] इसके द्वारा यह पता चलता है कि वीसलदेव संवत् १२१०-१२२० तक अजमेर का शासक था।

'बडा उपाश्रय' बीकानेर मे 'वीसलदेव रासो' की एक और प्रति कुछ दिन पहले मिली थी।[3] इसमें 'बारह सै बहोत्तरां मझारि' के स्थान पर ग्रन्थ का रचनाकाल इस प्रकार लिखा है—

सवत् सहस तिहत्तरइ जाणि,
नाल्ह कवीसर सरसीय वाणि।

इसके अनुसार 'वीसलदेव रासो' का रचनाकाल सवत् १०७३ ठहरता है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी इसी मत की पुष्टि करते हुए सवत् १०७३ को ही उचित ठहराया है।[4] उन्होंने अपने इतिहास मे लिखा है[5]—"गौरीशकर

---

[1]'वीसलदेव रासो'—सं० सत्यजीवन वर्मा, काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, भूमिका पृष्ठ ६।

[2]आविन्ध्यादाहिमाद्रे विरचितविजयस्तीर्थ यात्रा प्रसगा—
दुद्ग्रीवपु प्रहर्पान्निपतिपु विनमत्कन्ध रेणु प्रयत्न।
आर्यावर्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान्म्लेच्छविच्छेद नाभि—
देवः शाकभरीन्द्रो जगति विजयते बीसलः क्षोणिपालः।
ब्रुते सम्प्रति चाहुवाणतिलकः शाकभरी भूपति—
र्श्री मान विग्रहराज एप विजयी सन्तान जानात्मनः।
अस्माभि. करंदव्याधापि हिमवद्विन्ध्यान्तरा लभुव —
शेप स्वीकरणीयमस्तु भवनामुद्योग शून्य मन।

[3]नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १४, अक १, पृष्ठ ९९।

[4]हिन्दी का आलोचनात्मक इतिहास, प्रथम खड—डॉ० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ १४७।

[5]वही, पृष्ठ १४७।

हीराचंदजी ओझा के अनुसार वीसलदेव का काल संवत् १०३० से १०५६ माना गया है।[1] ' यदि गौरीशकर हीराचंद ओझा के अनुसार वीसलदेव का काल संवत् १०३० से १०५६ मान लिया जाय तो वीसलदेव रासो की रचना १५६ वर्ष बाद होती है। ऐसी स्थिति में लेखक का वर्तमान काल मे लिखना समीचीन नही जान पड़ता। अतएव या तो वीसलदेव काल जो वींसेंट स्मिथ और गौरीशंकर हीराचंद ओझा द्वारा निर्धारित किया गया है उसे अशुद्ध मानना चाहिए अथवा वीसलदेव रासो में वर्णित इस 'बारह सै बहोत्तरांहां मझारि' वाली तिथि को।" इस प्रकार ग्रन्थ के रचनाकाल की तिथि संवत् १२१२ को गलत ठहराते हुए उन्होंने सवत् १०७३ को ही ठीक माना है। वीसेंट ए. स्मिथ ने अपने इतिहास मे लिखा है:—

'Jaipal who was again defeated in November 1001 by Sultan Mohmud, committed suicide and was succeeded by his son Anand Pal, who like his father joined a confederacy of the Hindu powers under the supreme command of Visaldeo, the Chauhan Raja of Ajmer.'

इस प्रकार डॉ० वर्मा द्वारा यह लिखा जाना कि या तो वीसलदेव काल जो वीसेंट स्मिथ और गौरीशकर हीराचंद ओझा द्वारा निर्धारित किया गया है, अशुद्ध मानना चाहिए अथवा रासो मे वर्णित इस 'बारह सै बहोतराहां मंझारि' वाली तिथि को ठीक नही जान पड़ता। साभर एवम् अजमेर की चौहान परम्परा मे चार वीसलदेव हुए हैं। वीसलदेव विग्रहराज द्वितीय का समय सवत् १०३० से १०५६ तक माना जाता है। वीसलदेव विग्रहराज तृतीय का काल ११११२—११५६ के आसपास तथा वीसलदेव विग्रहराज चतुर्थ का राज्यकाल सवत् १२१०-१२२० के आसपास होना अनुमानित किया गया है। सवत् १०७३ में ग्रन्थ रचना के विचार के समर्थक इस ग्रन्थ के नायक वीसलदेव को विग्रहराज द्वितीय मानते हैं। एवम् सवत् १२१२ के समर्थक विग्रहराज चतुर्थ।

वीसलदेव रासो मे उल्लिखित ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर इन तिथियो का विवेचन करना अत्यन्त आवश्यक है। यह पहला ग्रन्थ है जिसका रचनाकाल शोध द्वारा ठीक निर्धारित किया जा सकता है।

---

[1] हिन्दी टॉड राजस्थान, प्रथम खंड, पृष्ठ ३५८।

सवत् १०७३ के विषय में कई तर्क दिए जाते हैं। बीसलदेव का विवाह भोज की कन्या राजमती के साथ होना लिखा है। राजा भोज के समय के सबंध मे विसेंट ए० स्मिथ लिखते हैं[1]—'Munja's Nephew, the famous Bhoja ascended the throne of Dhar in those days the capital of Malva, about 1018 A.D. and reigned gloriously for more than forty years.'

इस दृष्टि से राजा भोज बीसलदेव विग्रहराज द्वितीय का समकालीन ही सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में बीसलदेव का राजा भोज की पुत्री से विवाह होना सभव है। अगर सवत् १२१२ को रचनाकाल माना जाय तो यह निश्चित है कि बीसलदेव रासो घटनाकाल के काफी बाद में लिखा गया होगा। किन्तु जैसा कि हम लिख चुके हैं रासो की भाषा मे वर्तमान काल का इस ढंग से प्रयोग किया गया है कि कवि को नायक का समकालीन मानना ही होगा। अतः अगर बीसलदेव रासो के नायक को विग्रहराज चतुर्थ मान लिया जाय तो एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि राजा भोज की पुत्री के साथ विवाह किस प्रकार सभव ह। 'धार' में उस समय कोई भोज नामक राजा नही था। बीसलदेव के एक परमार-वशीय रानी तो अवश्य थी, क्योंकि उसका वर्णन पृथ्वीराज रासो में भी आता है।[2] हो सकता है, राजा भोज के पश्चात् उस वश ने यह उपाधि प्राप्त करली हो, जिससे आगे होने वाले परमार-वशी सरदार व राजा का भोज उपाधिसूचक नाम रहा हो। नरपति नाल्ह ने अपने रासो मे असली नाम न देकर केवल उपाधिसूचक नाम ही दे दिया हो। किन्तु परमारवंशी कन्या के लिए जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं उनके द्वारा यह भ्रम हो जाता है कि राजा भोज का नाम कही पीछे से मिलाया हुआ न हो, जैसे—'जम्मी गौरी तू जैसलमेर, गौरडी जैसलमेर की'। धार के परमार इधर राजपूताने मे भी फैले हुए थे, अत राजमती का उनमें से किसी सरदार की कन्या होना भी सभव है।

इस सबध मे किसी एक और मत का उल्लेख आवश्यक है। डॉ० गौरीशकर हीराचद ओझा ने लिखा है[3]—"बीसलदेव रासो नामक हिन्दी काव्य मे

---

[1] 'Early History of India' V. A Smith, Page 393.
[2] देखो—भूमिका, H Search Report 1900.
[3] राजपूताने का इतिहास, Vol. I गौरीशकर हीराचद ओझा (दूसरा परिवद्धित सस्करण), पृष्ठ २१६।

मालवे के राजा भोज की पुत्री राजमती का विवाह चौहान राजा बीसलदेव (विग्रहराज तीसरे) के साथ होना लिखा है और अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर के समय के (वि. सं. १२२६) बीजोल्यां (मेवाड) के चट्टान पर खुदे हुए बड़े शिलालेख मे बीसलदेव की रानी का नाम राजदेवी मिलता है। राजमती और राजदेवी एक ही राजकुमारी के नाम होने चाहिएँ। परन्तु भोज ने साभर के चौहान राजा वीर्यराम को मारा था, ऐसी दशा में भोज की पुत्री राजमती का विवाह बीसलदेव के साथ होना संभव नही। उदयादित्य ने चौहानों से मेल कर लिया था। अत: सभव है कि यदि बीसलदेव रासो के उक्त कथन मे सत्यता हो तो राजमती उदयादित्य की पुत्री या बहिन हो सकती है" अवंती के राजा भोज ने साभर के चौहान राजा वीर्यराम को मारा था, ऐसा उल्लेख पृथ्वीराज विजय में भी है।[1] वीर्यराम विग्रहराज तृतीय का ताऊ था। अतः बीसलदेव, विग्रहराज तृतीय और परमारवशी राजा भोज में परस्पर वैमनस्य पैदा हो गया था। ऐसी दशा मे राजा भोज की बीसलदेव तृतीय के साथ अपनी पुत्री का विवाह करना सभव नही जान पडता। किन्तु श्री रामबहोरी शुक्ल तथा भगीरथ मिश्र ने इसका समाधान इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि[2] "यह तो निश्चित ही है कि भोज-वीर्यराम युद्ध के बाद मालवा और शाकंभरी के राजाओ में सुलह हो गई थी। क्या यह सभव नही कि वीर्यराम के भतीजे बीसलदेव तीसरे की वीरता से मुग्ध होकर भोज ने अपनी लडकी उसे ब्याहदी हो और इसी सबध के कारण बीसलदेव ने उदयादित्य को सहायता दी हो। तब यह कहना होगा कि नरपति ने बीसलदेव चौथे के राज्यकाल मे सवत् १२१२ वि० (११५५ ई०) मे बीसलदेव रासो की रचना की, परतु उसमें जो कहानी दी वह बीसलदेव तीसरे की थी।"

---

[1]वीर्यरामसुतस्तस्य वीर्येण स्यात्स्मरोपम.।
यदि प्रसन्नया दृष्टयान दृश्यते पिनाकिना ॥ ६५
अगम्यो यो नरेन्द्राणा सुधादीधिति सुन्दर।
जघ्ने यशस्वयो यस्च भोजे ना वन्ति भूभुजा ॥ ६७

पृथ्वीराज विजय, सर्ग ५

[2]हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास—रामबहोरी शुक्ल और भगीरथ मिश्र, पृष्ठ ९३।

वीसलदेव रासो मे वीसलदेव की यात्रा का वर्णन इतने स्पष्ट शब्दो में किया गया है कि धार के राजा के सिवाय अन्य किसी के साथ सबध की कल्पना करना ही उचित नही जँचता । वीसलदेव अजमेर से रवाँना होता हुआ चित्तौड़ होकर धार पहुचता है । यात्रा के स्थानो का वर्णन भी स्पष्ट है । अत. यह आवश्यक है कि वीसलदेव राजा भोज का समकालीन हो । सवत् १०७३ वि० मानने से ऐसा होना सभव है ।

रासो में लिखा है कि शादी के पश्चात् वीसलदेव तीर्थ-यात्रा के प्रसग मे उड़ीसा गया था, तथा उडीसा जाने के पहल भी सात वर्ष बाहर रहा था । मुहणोत नैणसी की ख्यात का अनुवाद व संपादन करते हुए श्री रामनारायण दूगड ने एक टिप्पणी में लिखा है[1] कि "वीसलदेव दूसरे ने नरवदा तक देश विजय किया। गुजरात के प्रथम सोलंकी राजा मूलराज को कथाकोट में भगाया, अणहिलवाड़े के पास बीसलपुर का नगर बसाया तथा भड़ौच में आसापुरी देवी का मन्दिर बनवाया। सोलकी राजा मूलराज के साथ युद्ध करने के कारण वीसलदेव माल डेढ साल बाहर रहा था, तथा वीसलपुर नामक नगर बसाया था।" श्री ओझाजी भी इसका समर्थन करते हुए लिखते हैं[2] 'मूलराज को इस प्रकार उत्तर मे आगे बढता देख कर साभर के चौहान राजा विग्रहराज (वीसलदेव दूसरे) ने उस पर चढ़ाई करदी, जिसमे मूलराज अपनी राजधानी छोड कर कथा दुर्ग (कथा कोट का किला-कच्छ राज्य) मे भाग गया। विग्रहराज साल भर तक गुजरात मे रहा और उसको जर-जर करके लौटा।"

सभव है कवि ने इसी साल डेढ़ साल को वर्ष की अवधि मे परिणित कर दिया हो, तथा नरवदा व पूर्व के देश जीतने के लिए कुछ वर्ष उसे बाहर बिताने पड़े हो और नरपति नाल्ह ने उस अवधि को बारह वर्ष लिख डाला हो।

उपरोक्त सब दृष्टियों से सवत १०७३ की तिथि ही अधिक प्रमाणित मालूम देती है। किन्तु इस सबध में एक शका और होती है। विग्रहराज द्वितीय

---

[1] मुहणोत नैणसी की ख्यात—( प्रथम भाग ) हिन्दी अनुवाद—स० रामनारायण दूगड़, पृष्ठ १६९ के फुटनोट मे दी गई टिप्पणी।

[2] राजपूताने का इतिहास, Vol. I—लेखक गौरीशकर हीराचंद ओझा, पृष्ठ २४०।

साभर का शासक था। जैसा कि स्वर्गीय गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने भी अपने इतिहास मे स्पष्ट किया है।[1] प्रस्तुत रासो का नायक अजमेर का शासक था—

गढ़ अजमेरां को चाल्यो राव,
गढ़ अजमेरां गम करऊ,
गढ़ अजमेरा पहुंता जाय।

अजमेर नगर अर्णोराज के अजयदेव (अजयराज) के द्वारा वसाया गया था। श्री ओझाजी ने भी पृथ्वीराज प्रथम (सं० ११६२ वि०) के पुत्र अजयदेव को अजमेर बसाने वाला कहा है। श्री रामनारायण दूगड भी इसका समर्थन करते हैं।[2] अजयदेव का समय स० ११७० वि० के आसपास का माना जाता है। इस दृष्टि से वीसलदेव विग्रहराज द्वितीय (जो लगभग एक सौ वर्ष पहले हो चुका था) का अजमेर का शासक होना सभव नही है।

अपने विवाह के पश्चात् जब बीसलदेव धार से अजमेर लौटता है तो उसे आनासागर मार्ग में मिलता है।—

दीठउ आनासागर समद तणी बहार।
हस गवणि म्रगलोचणी नारि॥
एक भरइ बीजी कलिस करइ।
तीजी घरी पावजे ठंडा नीर॥
चौथी घनसागर जू घूलई।
ईसी हो समद अजमेर को तीर॥[3]

आनासागर झील को बनाने वाले अर्णोराज वीसलदेव विग्रहराज चतुर्थ के पिता थे। ओझाजी ने भी इसी मत की पुष्टि की है।[4]

---

[1] राजपूताने का इतिहास, Vol. I–ले. गौरीशंकर हीराचद ओझा, पृ. २४०।

[2] मुहणोत नैणसी की ख्यात (प्रथम भाग), हिन्दी अनुवाद-स. रामनारायण दूगड, पृष्ठ १८६, फुटनोट की टिप्पणी।

[3] बीसलदेव रासो—सं० सत्यजीवन शर्मा, प्रथम सर्ग, पृष्ठ ७५।

[4] अजयदेव के पुत्र अर्णोराज (आना) के समय मुसलमानो की सेना फिर इधर आई। पुष्कर को नष्ट कर अजमेर की तरफ बढी और पुष्कर की घाटी का उल्लघन कर आनासागर के स्थान तक आ पहुँची, जहां अर्णोराज ने उसका सहार कर विजय प्राप्त की। यहा मुसलमानो का रक्त गिरा था अतएव इस भूमि को अपवित्र जान जल से उसकी शुद्धि करने के लिए उसने यहां आनासागर तालाब बनवाया। राजपूताने का इतिहास, Vol. I, पृष्ठ ३०५।

बाबू श्यामसुन्दरदास ने इसे अनार्पण देवी के नाम पर बना हुआ मानते हैं।[1] बाबू साहब बीसलदेव रासो में वर्णित आनासागर और अर्णोराज द्वारा बनाये गये आनासागर में भेद करते हैं। किन्तु वह एक ही है जो अजमेर से कुछ दूरी पर है। विग्रहराज चतुर्थ बीसलदेव जब विवाह कर के लौटा होगा तो इस सागर की शोभा नवीन रही होगी तथा उसके पिता की कीर्ति-स्मरण के लिए कवि ने इसका वर्णन किया हो। ऐसी अवस्था मे विग्रहराज द्वितीय व तृतीय की ( जो अर्णोराज से डेढ सौ वर्ष पहले हो चुके थे ) शादी के पश्चात् आनासागर का मिलना असम्भव-सा हो जाता है।

उपरोक्त दो विरोधाभाषी ऐतिहासिक तथ्यों के कारण बीसलदेव रासो का रचनाकाल निश्चित रूप से तय किया जाना कुछ कठिन-सा है। इस तथ्य से इन्कार नही किया जा सकता कि यह सैंकड़ो वर्षो तक गाया जाता रहा। गेय रूप मे होने के कारण किसी गायक ने उस समय परिस्थितियो के अनुसार अगर उसमे थोड़ा बहुत परिवर्तन कर लिया हो तो आश्चर्य नही। जो विरोधाभाषी ऐतिहासिक तथ्य मिलते हैं उसका यही कारण जान पड़ता है। वास्तव में सवत् १०७३ की तिथि ही निश्चित रूप से सही जान पडती है। बीसलदेव तथा धार का राजा भोज पंवार दोनो ग्यारहवी शताब्दी में सवत् १००० और १०७३ के बीच मे थे। राजा भोज का राज्यासीन होने का समय स. १०५५ माना जाता है। किन्तु जिस समय राजा भोज गद्दी पर बैठा उस समय उसकी आयु केवल नौ वर्ष की थी। अत. राजमती का राजा भोज की पुत्री न होकर बहिन होना ही अधिक उचित मालूम पड़ता है। अगर बीसलदेव विग्रहराज द्वितीय का स्वर्गवास स० १०५६ में मान लिया जाय तो बीसलदेव रासो का रचनाकाल उसके सतरह वर्ष बाद होता है। १७ वर्ष का समय इतना लम्बा नही जो बीसलदेव और भोज जैसे प्रसिद्ध राजाओ की स्मृति को भुला दे। और उनके सम्बन्ध मे कवि को कल्पना का सहारा लेना पड़े। अजमेर एवम् आनासागर-सम्बन्धी वर्णन गायकों ने बीसलदेव विग्रहराज चतुर्थ के समय तथा उसके बाद भी सम्भवतया सम्मिलित कर लिए हो।

बीसलदेव रासो की भाषा भी आरम्भिक राजस्थानी का उदाहरण है। कई सौ वर्षों तक मौखिक रूप में रहने पर कई स्थल वस्तुतः बदल गए हैं। किन्तु

---

[1] नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ५, पृष्ठ १४१।

सांभर का शासक था। जैसा कि स्वर्गीय गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने भी अपने इतिहास मे स्पष्ट किया है।[1] प्रस्तुत रासो का नायक अजमेर का शासक था—

गढ अजमेरा कौ चाल्यौ राव,
गढ अजमेरां गम करऊ,
गढ अजमेरां पहुंतां जाय।

अजमेर नगर अर्णोराज के अजयदेव (अजयराज) के द्वारा बसाया गया था। श्री ओझाजी ने भी पृथ्वीराज प्रथम (सं० ११६२ वि०) के पुत्र अजयदेव को अजमेर बसाने वाला कहा है। श्री रामनारायण दूगड़ भी इसका समर्थन करते हैं।[2] अजयदेव का समय सं० ११७० वि० के आसपास का माना जाता है। इस दृष्टि से बीसलदेव विग्रहराज द्वितीय (जो लगभग एक सौ वर्ष पहले हो चुका था) का अजमेर का शासक होना सभव नही है।

अपने विवाह के पश्चात् जब बीसलदेव धार से अजमेर लौटता है तो उसे आनासागर मार्ग में मिलता है।—

दीठउ आनासागर समद तणी बहार।
हस गवणि अगलोचणी नारि॥
एक भरइ बीजी कलिख करइ।
तीजी घरी पावजे ठंडा नीर॥
चौथी घनसागर जू धूलई।
ईसी हो समद अजमेर को वीर॥[3]

आनासागर झील को बनाने वाले अर्णोराज बीसलदेव विग्रहराज चतुर्थ के पिता थे। ओझाजी ने भी इसी मत की पुष्टि की है।[4]

---

[1] राजपूताने का इतिहास, Vol. I–ले. गौरीशंकर हीराचद ओझा, पृ. २४०।

[2] मुहणोत नैणसी की ख्यात (प्रथम भाग), हिन्दी अनुवाद-सं रामनारायण दूगड, पृष्ठ १८६, फुटनोट की टिप्पणी।

[3] बीसलदेव रासो—सं० सत्यजीवन शर्मा, प्रथम सर्ग, पृष्ठ ७५।

[4] अजयदेव के पुत्र अर्णोराज (आना) के समय मुसलमानो की सेना फिर इधर आई। पुष्कर को नष्ट कर अजमेर की तरफ बढी और पुष्कर की घाटी का उल्लघन कर आनासागर के स्थान तक आ पहुँची, जहां अर्णोराज ने उसका संहार कर विजय प्राप्त की। यहां मुसलमानों का रक्त गिरा था अतएव इस भूमि को अपवित्र जान जल से उसकी शुद्धि करने के लिए उसने यहां आनासागर तालाब बनवाया। राजपूताने का इतिहास, Vol. I, पृष्ठ ३०५।

होकर व्याकरण से होती है। बीसलदेव रासो की भाषा को व्याकरण की कसौटी पर कसने मे पता चलता है कि उसमें अपभ्रंश के नियमों का विशेष पालन हुआ है। इस सम्बन्ध में दो उदाहरणों से यह बात अधिक स्पष्ट हो जाएगी—

> कसमीरां पाटणह मझारि। सारदा तुठि ब्रह्मकुमारि॥
> नाल्ह रसायण नर भणइ। हियडइ हरखि गायण कइ भाइ॥
> खेला मेल्ह्या मांडली। बहस सभा माहि मोहेउ छंद राइ॥
>
> खंड १, छंद ६।

> नाल्ह बखाणइ छइ नगरी जू धार। जिहां वसइ राजा भोज पंवार॥
> अमीय सइ्हस सजे क रि मैमत्ता। पच छोहरण जे कर मिलइ निरिंदा॥
> कर जोडे 'नरपति' कहइ। बिसनपुरी जाणे वसई्ही गोव्यंद॥
>
> खंड १, छंद १२।

ग्रन्थ के रचयिता के विषय में भी नाम के अतिरिक्त अन्य जानकारी बहुत ही कम है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सोलहवी शताब्दी के गुजरात के नरपति और बीसलदेव रासो के नरपति नाल्ह एक व्यक्ति नहीं हैं। श्री मोतीलाल मेनारिया की एक होने की धारणा[1] का खण्डन करते हुए श्री माता-प्रसाद गुप्त ने लिखा है—"गुजरात के नरपति ने अपने को कहीं नाल्ह नहीं कहा जब कि बीसलदेव रासो का रचयिता अपने को नाल्ह कहता है। फिर जो पंक्तियां तुलना के लिए दोनों कवियों से दी गई हैं, उनमें से चार तो इस संस्करण में प्रक्षिप्त माने गए छंदों की हैं और शेष तीन पंक्तियों में जो साम्य है वह साधारण है। उस प्रकार का साम्य देखा जावे तो मध्य युग के किन्हीं भी दो कवियों की रचनाओं में मिल सकता है। फिर बीसलदेव रासो में न जैन नमस्क्रिया है और न कोई अन्य ऐसी बात मिलती है जिससे इसका लेखक जैन प्रमाणित होता हो। केवल आंशिक नाम-साम्य के आधार पर इस रचना को सोलहवीं-सत्रहवीं शती के किसी जैन लेखक की कृति मानना तटस्थ बुद्धि से संभव नहीं ज्ञात होता।"

—राजस्थानी सबद कोस की प्रस्तावना में उद्धृत।

[1] राजस्थानी भाषा और साहित्य—डॉ० मोतीलाल मेनारिया, पृ. ८८-८९।

अन्तस्थल मे अभी वही प्राचीनता का ढांचा वर्तमान है। इसमे कुछ फारसी शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं, जैसे—महल, इनाम, नेजा, चाबुक आदि। ये शब्द बाद में मिलाये गये प्रतीत होते है। किन्तु यह भी सम्भव है, नरपति नाल्ह ने स्वय भी इनका प्रयोग किया हो। क्योंकि उस समय मुसलमानों का भारत मे प्रवेश हो गया था। बीसलदेव के सरदारों मे एक मुसलमान सरदार भी था, जैसा कि नरपति नाल्ह ने रासो मे लिखा है—

> चढि चाल्यौ छै मीर कबीर।
> खुदसार तुझ टुके टुकधीर ।। १-४३
> महल पलाण्यो ताज दीन।
> खुरसाणी चढि चाल्यो गोड ।। १-४१

मुसलमानो के सम्पर्क मे आकर नरपति नाल्ह ने कुछ फारसी शब्दो को ग्रहण कर लिया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। प्राकृत एवम् अपभ्रंश की छाप इस काव्य मे पूरी तरह स्पष्ट है। यह ग्रथ उस समय रचा गया जबकि साहित्यिक विद्वानो की भाषा प्राकृत व अपभ्रंश थी। उस समय बोलचाल की भाषा मे नरपति नाल्ह ने काव्य-रचना कर वास्तव मे बडा साहस का कार्य किया। कही-कही मेलन, चितह, रणि, आदिजइ, इणिविधि, ईसउ, नायर, पसाऊ, पयोहर आदि प्राकृत शब्द भी आ गए, जिनका प्रयोग अपभ्रंश काल के पीछे तक भी होता रहा।

बीसलदेव रासो मे कारक दो प्रकार से प्रयुक्त हुए हैं। कुछ मे तो विभक्तियों का प्रयोग है, कुछ मे कारक चिन्ह लगे हैं। इस प्रकार भाषा में सयोगात्मक और वियोगात्मक दोनों अवस्थाये प्राप्त हैं। वर्तमान काल भी इसमे दो प्रकार से व्यक्त हुए है। एक तो 'छइ' वा 'हइ' मूल क्रिया मे लगा कर तथा दूसरे मूल क्रिया मे परिवर्तन कर के। भाषा यद्यपि काफी नवीन रूप में हो गई है किन्तु प्राचीन रूप भी पूर्णतया नष्ट नही हुआ। प्राय. सज्ञाये, कारक आदि प्राचीन रूप मे मिलते है। बिमनपुरी, म्हारउ मिलिअ, पणमिअ, अछइ, वे, राखइ, जैणि इत्यादि अपभ्रंश के ठीक पश्चात् की लोक-भाषा के प्रयोग हैं। ऐसे प्रयोगो की सख्या काफी अधिक है। कई ऐसे प्रयोग भी मिलते हैं जो सोलहवी शताब्दी की भाषा के रूप कहे जा सकते हैं, जैसे—'बेटी राजा भोज की' मे की और 'उलिगाणा गुण वरणिता' में वरणिता का प्रयोग। किन्तु ऐसे शब्द बहुत कम हैं। इस तनिक से शब्द-साम्य पर इसे सत्रहवी शताब्दी का रचित जाली ग्रथ कह देना उचित नही। भाषा की परीक्षा उसके शब्दों से न

होकर व्याकरण से होती है। बीसलदेव रासो की भाषा को व्याकरण की कसौटी पर कसने से पता चलता है कि उसमें अपभ्रंश के नियमों का विशेष पालन हुआ है। इस सम्बन्ध मे दो उदाहरणों से यह बात अधिक स्पष्ट हो जाएगी—

> कसमीर्ग पाटणह मझारि। सारदा तुठि ब्रह्मकुमारि॥
> नाल्ह रसायण नर भणइ। हियडइ हरखि गायण कइ भाइ॥
> खेला मेहल्या माडली। बहस सभा माहि मोहेउ छइ राइ॥
> खड १, छद ६।

> नाल्ह बखाणइ छइ नगरी जू धार। जिहां वसइ राजा भोज पंवार॥
> असीय सइहस सजे वरि मैमत्ता। पच क्षोहण जे कर मिलइ निरिंदा॥
> कर जोडे 'नरपति' कहइ। बिसनपुरी जाणे वसइहो गोब्यद॥
> खंड १, छद १२।

ग्रन्थ के रचयिता के विषय में भी नाम के अतिरिक्त अन्य जानकारी बहुत ही कम है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सोलहवी शताब्दी के गुजरात के नरपति और बीसलदेव रासो के नरपति नाल्ह एक व्यक्ति नही हैं। श्री मोतीलाल मेनारिया की एक होने की धारणा[1] का खण्डन करते हुए श्री माताप्रसाद गुप्त ने लिखा है—"गुजरात के नरपति ने अपने को कही नाल्ह नही कहा जब कि बीसलदेव रासो का रचयिता अपने को नाल्ह कहता है। फिर जो पक्तियां तुलना के लिए दोनो कवियो से दी गई हैं, उनमे से चार तो इस सस्करण मे प्रक्षिप्त माने गए छदो की हैं और शेष तीन पक्तियो मे जो साम्य है वह साधारण है। उस प्रकार का साम्य देखा जावे तो मध्य युग के किन्हीं भी दो कवियो की रचनाओं मे मिल सकता है। फिर बीसलदेव रासो में न जैन नमस्क्रिया है और न कोई अन्य ऐसी बात मिलती है जिससे इसका लेखक जैन प्रमाणित होता हो। केवल आंशिक नाम-साम्य के आधार पर इस रचना को सोलहवीं-सत्रहवी शती के किसी जैन लेखक की कृति मानना तटस्थ बुद्धि से सभव नही ज्ञात होता।"

—राजस्थानी सबद कोस की प्रस्तावना मे उद्धृत।

[1] राजस्थानी भाषा और साहित्य—डॉ० मोतीलाल मेनारिया, पृ० ८८-८९।

राजस्थानी शोध-संस्थान जोधपुर का महत्वपूर्ण प्रकाशन

# राजस्थांनी सबद कोस

संपादक

## सीताराम लाळस

१. लगभग हजार-हजार पृष्ठों की चार बडी जिल्दो में प्रकाशित होगा।

२. प्रथम जिल्द शीघ्र ही प्रकाशित हो रही है।

३. लेखक ने तीस वर्ष के असाध्य परिश्रम से शब्दो का संकलन राजस्थानी के प्राचीन हस्तलिखित ग्रथो, नवीन प्रकाशित पुस्तको, लोक-साहित्य, लोक-गीतों, बोलचाल की भाषा एवं आधुनिक राजस्थानी प्रकाशनो से किया है।

४ इस कोश मे कृषि एवं अन्य पेशो-संबंधी शब्द, ज्योतिष, वैद्यक, धर्म-दर्शन, शकुन-संबंधी शब्द, गणित, खगोल, भूगोल, भूतत्व, प्राणी-शास्त्र-संबंधी शब्द, संगीत, साहित्य, भवन, चित्र एवं मूर्तिकला-संबंधी शब्द समाहित किये गये हैं।

५ कोश राजस्थानी जीवन की सर्वांगीण गतिविधि का प्रामाणिक शब्दात्मक प्रतिबिम्ब है।

६. राजस्थान की विभिन्न बोलियों के शब्द भी इस कोश मे हैं, यथा : मेवाड़ी, हाड़ौती, मारवाडी, शेखावाटी, मेवाती, ढूंढाडी, मालवी, वागडी आदि।

७ शब्द की सपूर्ण आत्मा को समझने के लिए प्रत्येक शब्द को इस प्रकार व्यवस्थित किया है—राजस्थानी शब्द, उसका व्याकरण स्वरूप, तत्सम् प्रति शब्द और जहा-जहा सभव हुआ वहा शब्द का धातुरूप, महत्वपूर्ण शब्दो के अनेक पर्यायवाची शब्द, विवादात्मक अर्थों के स्थान पर राजस्थानी प्रयोग के उदाहरण, क्रिया-प्रयोग, शब्दों पर आधारित मुहावरे एवं कहावतें, शब्दो के रूप-भेद, यौगिक शब्द, अल्पार्थ, महत्ववाची, विलोम शब्द आदि कुछ मुख्य बातें हैं।

८. कोश मे लगभग दस हजार मुहावरे-कहावतो का अर्थसहित प्रयोग किया गया है। हजारो दोहो एव पद्याशो का प्रयोग उदाहरणो मे किया गया है।

९ राजस्थान के प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्तियों एवं स्थानो, धार्मिक सप्रदायो एव उनके उन्नायको, उत्सवो एव त्योहारो, जातियों एवं उनके रीतिरिवाजो पर यथास्थान प्रामाणिक टिप्पणिया दी गई हैं।

१० कोश के प्रथम जिल्द के साथ लेखक द्वारा विरचित एक सुविस्तृत एवं विवेचनात्मक प्रस्तावना है जो शब्द कोश की आन्तरिक समस्याओ को समझाने का उपक्रम करेगी और राजस्थानी साहित्य पर भी प्रकाश डालेगी।

# 'राजस्थानी सबद कोस' पर सम्मतियाँ

*I found it conceived in a fine scientific spirit, and it's execution appeared to me to be perfectly in order.*

*I wish your venture all success.*

**Dr. Sunitikumar Chatterji**

'राजस्थानी सबद कोस' का प्रथम भाग मिला। बिना किसी हल्ला-गुल्ला के ठोस काम करने का यह उत्तम उदाहरण है। राजस्थानी साहित्य के रूप में हिन्दी को विस्तृत तथा बहुमूल्य देन मिली है। जब इसके सारे रत्न प्रकाशित होकर सुलभ हो जायेंगे तब विद्वान इसके मूल्य को समझ पायेंगे। उसके समझने के लिए ऐसे विशाल कोश की आवश्यकता थी।

**महापंडित राहुल सांकृत्यायन**

मैंने इस शब्द-कोश के कुछ पृष्ठ पढ़ लिये हैं। यह बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य है। बहुत दिनों से ऐसे कोश का अभाव खटक रहा था। इसके प्रकाशन से केवल राजस्थानी भाषा के समझने में ही सहायता नहीं मिलेगी, अन्य सम्बन्धित भाषाओं के समझने में भी बड़ी सहायता मिलेगी। कई अपभ्रंश साहित्य के ऐसे शब्द जो अस्पष्ट या विवादास्पद हैं, इसमें मिल जाते हैं। इसका प्रकाशन कर के शोध-संस्थान ने साहित्य के विद्यार्थियों का बड़ा उपकार किया है। मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार करें।

**डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी**

मैं कोश की सर्वतोमुखी जागरूकता देख कर दंग रह गया। भारत में जितने भाषा-कोश बने हैं उनको मैंने समय-समय पर देखा है, पर उनमें यह सर्वथा भिन्न है। पांडित्य और सदर्भ दोनों का इसमें असाधारण संयोग हुआ है। कोशकार की कार्य-पद्धति देखी और देखा श्री लालस का अध्यवसाय। अपने देश की प्राचीन परिस्थितियों में पंडित जिस निष्ठा से निरन्तर लिखा करते थे उसकी कुछ झलक मैंने यहां पाई।

**डॉ० भगवतशरण उपाध्याय**

देवताओं ने समुद्र का मन्थन कर के १४ रत्न निकाले थे। किन्तु भाषा-समुद्र का मंथन कर के उससे शब्द-रत्न निकालना, उनको परखना, उनकी बारीकियों को दिखलाना यह और भी दुष्कर कार्य है। किन्तु श्री सीतारामजी लालस की अनवरत तपस्या और साधना ने इसे भी सम्भव कर के दिखला दिया है। यह एक बहुत बड़ा अनुष्ठान है जिसकी सफलता से राजस्थान का मस्तक ऊंचा रहेगा।

श्री सीतारामजी ने इस कोश की भूमिका लिखने में भी बहुत श्रम किया है। प्रस्तावना में उन्होंने राजस्थानी भाषा और व्याकरण के सम्बन्ध में बहुमूल्य सामग्री प्रस्तुत की है। मेरी दृष्टि में राजस्थानी भाषा और साहित्य के इतिहास में इस कोश को ऐतिहासिक महत्व प्राप्त होगा।

**डॉ० कन्हैयालाल सहल**

अपने ढंग का सर्वप्रथम कोश होने के कारण यह प्रयत्न सर्वथा प्रशंसनीय है। पुराने प्रयोगों के उदाहरण देकर इस कोश को वस्तुतः महत्वपूर्ण बना दिया है।.. यह राजस्थानी कोश अच्छा बन गया है और राजस्थानी साहित्य का अध्ययन करने वालों के लिए बहुत ही सहायक और उपयोगी प्रमाणित होगा।

**डॉ० रघुवीरसिंह, सीतामऊ**

*परम्परा के कुछ महत्वपूर्ण प्रकाश*

१. लोकगीत—मू. ३ रु.
राजस्थानी लोक गीतों का एक अध्ययन
परिशिष्ट मे चुने हुए गीत

२. गोरा हट जा—मू. ३ रु. (अप्राप्य)
अंग्रेजी साम्राज्य-विरोधी कविताओं का संक
ऐतिहासिक टिप्पणियो सहित

३. डिंगल कोश—मू. १२ रु. (अप्राप्य)
डिंगल के प्राचीन पद्य-बद्ध कोशों का संकलन

४. जेठवे रा सोरठा—मू. ३ रु.
जेठवा सम्बन्धी राजस्थानी व गुजराती सो
तथा विवेचन

५. राजस्थानी बात संग्रह—मू. ७ रु.
राजस्थानी की प्राचीन चुनी हुई बातें तथा वि

६ रसराज—मू. ३ रु.
शृगार-रस-सम्बन्धी राजस्थानी के चुने
दोहो का सकलन

७ नीति प्रकास—मू ६ रु.
फारसी के ग्रंथ अखलाक-ए-मोहसनी का रा
स्थानी गद्यानुवाद

८ ऐतिहासिक बातां—मू ३ रु.
मारवाड के इतिहास से सम्बन्ध रखने वा
प्राचीन बातें व विवेचन

सपादक : नारायणसिंह भाटी
प्रकाशक : राजस्थानी शोध-संस्थान
रिसाला रोड, जोधपुर